खंड 2
विकेन्द्रित विकास

खंड 2 विकेन्द्रित विकास

खंड परिचय

पाठ्यक्रम का यह दूसरा खण्ड है। यह पाठकों को विकेन्द्रित विकास की चुनौतियों से अवगत कराता है। यह सामाजिक रूपांतरण, आर्थिक विकास और विकास के परिणामों के समान वितरण की भी जानकारी प्रदान करता है।

इकाई 4 : समकालीन व्यवस्थाओं में विकेन्द्रीकरण को समझना

इस इकाई में समकालीन व्यवस्थाओं में विकेन्द्रीकरण की चर्चा की गई है। यह विद्यार्थी को विकेन्द्रीकरण के महत्त्व, वैधानिक संरचना और 73वें तथा 74वें संविधान संशोधन अधिनियमों के संदर्भ में विकेन्द्रीकरण की कार्य प्रणाली की जानकारी प्रदान करती है। यह विकेन्द्रीकरण की सुचारु कार्य प्रणाली के लिए कुछ सार्थक सुझाव भी प्रदान करती है।

इकाई 5 : विकेन्द्रित विकास के घटक – I : सशक्तिकरण

सशक्तिकरण विकेन्द्रित विकास के मुख्य घटकों में से एक घटक है। इस इकाई में सशक्तिकरण की आवश्यकता और अभिप्राय की चर्चा की गई है। इसमें सशक्तिकरण के लिए किए गए विभिन्न प्रयासों और विकेन्द्रित विकास से होने वाले सशक्तिकरण की भी चर्चा की गई है।

इकाई 6 : विकेन्द्रित विकास के घटक – II : सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक प्रशासन

हाल ही के वर्षों में राजनीतिक, प्रशासनिक और वित्तीय अधिकार स्थानीय संस्थाओं को हस्तांतरित करने की तरफ विश्व का ध्यान आकर्षित हुआ है। इस इकाई में छात्रों को विकेन्द्रित विकास के सामाजिक-आर्थिक तथा साथ ही राजनीतिक-प्रशासनिक घटकों से अवगत कराया गया है। यह विकेन्द्रित विकास के सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक - प्रशासकीय घटकों की मज़बूती के लिए किए गए विभिन्न उपायों की पहचान करती है।

इकाई 7 : विकेन्द्रित विकास के घटक – III : विकास के लाभों का समान वितरण

विकास के लाभों का समान वितरण विकेन्द्रित विकास का बहुत महत्त्वपूर्ण और अभिन्न घटक है। इस इकाई में छात्रों को विकास के लाभ वितरण के मूलभूत सिद्धान्त और लागू मानदण्ड समझाए गए हैं। इसमें न्याय के विभिन्न सिद्धान्तों की भी चर्चा की गई है।

इकाई 4 समकालीन व्यवस्थाओं में विकेन्द्रीकरण को समझना

रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 विकेन्द्रीकरण की वैधानिक संरचना

4.3 विकेन्द्रीकरण का परिचालन

4.3.1 राजनीतिक विकेन्द्रीकरण

4.3.2 क्रियात्मक विकेन्द्रीकरण

4.3.3 प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण

4.3.4 वित्तीय विकेन्द्रीकरण

4.4 विकेन्द्रीकरण : एक लम्बा मार्ग

4.5 सारांश

4.6 मुख्य अवधारणाएँ

4.7 संदर्भ व अन्य लेख

4.8 अभ्यास

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) के महत्त्व की व्याख्या कर सकेंगे;
- 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियमों के संदर्भ में विकेन्द्रीकरण की वैधानिक संरचना (Legislative Framework) और कार्य व्यवस्था की चर्चा कर सकेंगे;
- नई व्यवस्था की समस्याओं और कमियों को परिभाषित कर सकेंगे; और
- विकेन्द्रीकरण की सुचारु कार्य व्यवस्था के लिए सार्थक सुझाव प्रदान कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

विकेन्द्रीकरण का लोक प्रशासन के साहित्य में प्रसिद्ध विषय के रूप में प्रादुर्भाव हुआ है और इसे देश में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक नए विचारों में से एक विचार माना जाता है। विकासशील देशों में विशेषतः केन्द्रीय योजना निर्माण के भ्रमों को मिटाने के संदर्भ में शासन सुधार हेतु विकेन्द्रीकरण नीति समूह की एक प्रासंगिक घटक के रूप में सिफारिश की गई है और यह आज भी जारी है। केन्द्रीकृत शासन जटिल और व्यापक सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के कारण स्वयं को अत्यधिक दबाव में महसूस करते थे और उनके पास इनका कोई समाधान भी नहीं था क्योंकि सरकार को निर्धन वर्ग की बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए आर्थिक विकास का अधिक सामाजिक समानता का स्वरूप

विकसित करना था। आधुनिक राज्य में विभिन्न प्रकार के अनेक और जटिल कार्यों के परिणामस्वरूप विकेन्द्रीकरण सरकारी सेवाओं के प्रशासनिक संगठन में मुख्य घटक बन गया है।

अनेक देश राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था के निम्न स्तर पर निर्वाचित संस्थाओं को अधिकार और दायित्व हस्तांतरित करने के लिए विकेन्द्रीकरण प्रयासों का परीक्षण कर रहे हैं। कई देशों में सामाजिक-आर्थिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए साधनों के रूप में विकेन्द्रीकरण को संवैधानिक आदेश बना दिया गया है (क्यूटक, 1998)। भारत के मामले में इस दिशा में प्रयास स्वतंत्रता के बाद से आरंभ कर दिए गए थे। विकेन्द्रीकरण और स्थानीय निर्णय लोगों द्वारा लेने के लिए तीन स्तरीय शासन व्यवस्था के पक्ष में ज़ोर-शोर से आवाज उठाई गई थी। इसके परिणामस्वरूप 1992 में 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियम पारित किए गए जिनका उद्देश्य ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों के लिए तीन स्तरीय शासन व्यवस्था प्रदान करना था। इन अधिनियमों से आधारभूत स्तर पर सामाजिक सक्रियता प्रक्रिया को सहज/सुगम बनाने के अवसर उपलब्ध हुए।

4.2 विकेन्द्रीकरण की वैधानिक संरचना

1991 में सत्ता में आने के बाद कांग्रेस सरकार में पंचायती राज संस्थाओं को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गई और 72वाँ संविधान संशोधन प्रस्ताव 1991 में प्रस्तुत किया गया। संपूर्ण बहस और चर्चा के बाद संसद ने 22 दिसम्बर 1992 को प्रस्ताव पारित कर दिया जिसे 73वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 के रूप में जाना जाता है। 23 अप्रैल, 1994 तक सभी राज्यों ने पंचायती राज संस्थाओं को मज़बूत बनाने के लिए नए अधिनियम को लागू करने की सभी प्रक्रियाएँ पूरी कीं। 74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1 अप्रैल, 1993 को लागू हुआ। सभी राज्यों ने विद्यमान नगरपालिका अधिनियमों को 31 मई 1994 तक संशोधित या प्रतिस्थापित कर दिया। फिर भी, 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियम जम्मू और कश्मीर, मिज़ोरम, नागालैण्ड और देश के कुछ अनुसूचित क्षेत्रों पर लागू नहीं होते।

पंचायतों और नगरपालिकाओं का संवैधानिककरण विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करने और स्थानीय संस्थाओं को मज़बूती और स्थिरता प्रदान करने की दिशा में एक कदम है। इससे पंचायतों और नगरपालिकाओं की स्थिति में व्यापक परिवर्तन आया। संविधान ने सभी राज्यों में तीन स्तरीय (20 लाख से कम आबादी वाले छोटे राज्यों में – दो-स्तरीय) पंचायतों और नगरपालिकाओं की स्थापना करना और सभी स्तरों पर पाँच वर्षों के नियमित अंतराल पर सीधे चुनाव कराना अनिवार्य बना दिया। पंचायतों और नगरपालिकाओं को जहाँ तक अधिकार और संसाधन सौंपने का सम्बन्ध है, संविधान ने स्व-शासन की संस्था के रूप में घोषणा करने के द्वारा केवल बुनियादी सिद्धान्तों का वर्णन किया है और इन्हें हस्तांतरित करने वाले कार्यों की उदाहरणस्वरूप सूची प्रदान की है (घोष और कुमार, 2003)। विभिन्न राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों में अब लगभग 2,25,000 ग्राम पंचायतें, 6,000 पंचायत समितियाँ और 550 जिला परिषद विधिवत् निर्वाचित राज्य विधानमंडलों द्वारा शासित है (गुप्ता, डी. एन, 2004 : 32)। इसी प्रकार 100 निगमों सहित लगभग 3,700 शहरी स्थानीय संस्थाएँ, 1,500 नगरपालिका परिषदें और 2,100 नगर पंचायते हैं। इसके अतिरिक्त एक अतिरिक्त संवैधानिक संस्था प्रकार के 56 छावनी बौर्ड हैं (चौबे, पी. के., 2004 : 17)।

4.3 विकेन्द्रीकरण का परिचालन

पंचायती राज संस्थाओं को मज़बूत बनाने के लिए सभी राज्यों ने 23 अप्रैल, 1994 को नए अधिनियम को लागू करने की सभी प्रक्रियाएँ पूर्ण कर ली थीं। अधिकतर राज्यों ने 72 घंटों में ही नया अधिनियम पारित कर दिया था यहाँ तक कि उनमें से कुछ राज्यों ने तो पंचायतों के भारतीय संविधान का अंग बनने के दिन ही 23 अप्रैल, 1994 के निर्धारित समय को पीछे छोड़ने के लिए उसी दिन आरंभ के कुछ

घंटों में ही इसे पारित कर दिया था (मिश्रा और मिश्रा, 2002 : 18)। जहाँ तक नगरपालिका अधिनियमों का सम्बन्ध है, कुछ राज्यों ने तो विद्यमान अधिनियमों में केवल संशोधन किया, कुछ अन्य राज्यों ने पुराने अधिनियमों को प्रतिस्थापित कर नए अधिनियम बनाए तथा जबकि कुछ राज्यों ने पहली बार ऐसे अधिनियम बनाए (चौबे, 2004 : 25)। लेकिन केवल अधिनियम बना देने से ही राज्यों में स्थानीय संस्थाओं की प्रभावशीलता और व्यावहारिकता को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। सबसे महत्त्वपूर्ण उनका परिचालन करना है। इसलिए आगे के पृष्ठों में विभिन्न राज्यों में विकेन्द्रीकरण की विभिन्न अवस्थाओं की जाँच करने और विकेन्द्रीकरण की सार्थक प्रक्रिया के भावी परिचालन आरंभ करने की व्यवस्था का वर्णन करने का भी प्रयास किया गया है। इसके अंतर्गत चर्चा को निम्नलिखित श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है।

4.3.1 राजनीतिक विकेन्द्रीकरण

राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के अंतर्गत सशक्तिकरण के माध्यम से लोगों को निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में शामिल किया जाता है। यह केन्द्रीय सरकार से स्वायत्त संस्थाओं और उन स्थानीय स्तरों जो लोकतांत्रिक तरीके से अपने निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित हुए हैं को अधिकारों और दायित्वों के हस्तांतरण को सूचित करता है। इसके अंतर्गत स्थानीय संस्थाओं के चुनाव, स्थानीय संस्थाओं की राजनीतिक स्थिति, स्वायत्तता, लोगों की भागीदारी और जवाबदेही जैसे विषयों का अध्ययन किया जाता है।

स्थानीय संस्थाओं का चुनाव

नए अधिनियम ने पाँच साल के अंतर्गत पर स्थानीय संस्थाओं के चुनाव कराना अनिवार्य कर दिया है। इसके अनुसार स्थानीय संस्थाओं के गठन के लिए चुनाव कराए जाते हैं। कुछ राज्यों जैसे आंध्र प्रदेश, बिहार, कर्नाटक, गुजरात, मध्य प्रदेश और पंजाब में चुनाव कराने में विलम्ब किया गया। बिहार के मामले में चुनाव न कराने पर केन्द्र सरकार की ग्रामीण विकास राशि रोक देने की धमकी का भी कोई असर नहीं हुआ। अंत में 23 वर्ष के अंतराल के बाद अप्रैल 2001 में चुनाव कराए गए। इसी प्रकार असम में भी 9 वर्ष के अंतराल पर जनवरी 2002 में चुनाव आयोजित हुआ।

अधिकतर मामलों में, सभी तीनों स्तरों के लिए एक साथ चुनाव आयोजित नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र में पंचायत समिति और जिला परिषदों के चुनाव मार्च, 1997 में आयोजित हुए परन्तु ग्राम पंचायत के चुनाव अक्तूबर, 1997 में अर्थात् 6 मास के अंतराल पर हुए। इसी प्रकार, पंजाब में ग्राम पंचायतों के चुनाव जनवरी 1998 में हुए और जिला परिषद तथा पंचायत समति के चुनाव जून 2002 में हुए। हमने गुजरात में भी यही स्थिति देखी है जहाँ तीनों स्तर के चुनाव एक साथ नहीं हुए।

जहाँ तक शहरी स्थानीय संस्थाओं का सम्बन्ध है, झारखण्ड, उत्तराखण्ड और पाण्डिचेरी को छोड़कर यद्यपि नगरपालिका संस्थाएँ स्थापित तो की गई परन्तु प्रत्येक जगह प्रथम चुनाव होने के बाद शेष चुनावों में अत्यधिक विलम्ब था (शिवराम कृष्णन, 2000)।

कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि राज्य चुनाव आयोगों (State Election Commissions; SECs) ने आधारभूत स्तर पर लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर पर्याप्त विश्वसनीयता प्रदर्शित कर नगरपालिका चुनावों को काफी गंभीरता से लिया है। कुछ राज्यों जैसे बिहार, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, महाराष्ट्र और गुजरात में तो राज्य चुनाव आयोगों ने और एक कदम आगे बढ़ाया है। चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशियों के आपराधिक पूर्ववृत्त, संपत्ति और दायित्वों के बारे में मतदाताओं के सूचना अधिकार से सम्बन्धित सर्वोच्च न्यायालय के 3 मई 2002 के आदेश से प्रभावित होकर राज्य चुनाव आयोग ने सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के अनुरूप आदेश जारी किए। आखिरकार पंचायतों और नगरपालिकाओं के चुनावों में मतदाताओं को प्रत्याशियों के बारे में सूचना प्राप्त करने का अधिकार है (मैथ्यू, जॉर्ज, चहर, एस एस में उद्धृत, 2005 : 25-26)।

निष्क्रिय ग्राम सभा

ग्राम सभाओं ने लोगों के लिए व्यवस्था में पारदर्शिता एवं दायित्व सुनिश्चित करने के लिए एक राजनीतिक मंच प्रदान किया है। सभी राज्य पंचायत अधिनियमों में उनके लिए ग्राम सभा गठित करने और कम से कम 6 मास में एक बार बैठक करने का प्रावधान है। लेकिन दुर्भाग्य से पिछले दस वर्षों में नई पंचायती राज व्यवस्था की कार्य शैली दर्शाती है कि वे वांछित परिणाम तक सक्रियाशील नहीं रही हैं। अधिनियमों में ग्राम सभा के कार्यों का वर्णन नहीं है। वास्तव में यह चिंता का विषय है क्योंकि यदि ग्राम सभाएँ सतर्क और अपनी समस्याओं के प्रति संवेदनशील नहीं हैं तो विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया सफल नहीं हो सकती।

विभिन्न अनुसंधान अध्ययनों से ज्ञात होता है कि इधर-उधर कुछ अपवादों को छोड़कर ग्राम सभाएँ अभी भी काफी निष्क्रिय हैं। राज्यों ने ग्राम सभाओं की स्थापना तो कर दी है लेकिन उनके अधिकार प्रतिबंधित हैं और अधिकारों के उपयोग की प्रक्रिया का स्पष्ट वर्णन नहीं किया गया है। "अधिकतर कानूनों में ग्राम सभाओं के निर्णय मानना ग्राम पंचायतों के लिए अनिवार्य नहीं है। यद्यपि ग्राम सभा से महत्त्वपूर्ण कार्य जैसे स्वयंसेवी श्रमिकों और सामुदायिक कल्याण कार्यक्रमों के लिए वस्तु तथा नकद राशि के योगदान को प्रेरित करना प्रशासन की रिपोर्ट बनाना, लेखा परीक्षा की रिपोर्ट बनाना, विकास कार्यक्रमों को कार्यान्वयन करने की अपेक्षा की जाती है लेकिन उनके द्वारा ये कार्य नहीं किए जाते हैं (भारत में पंचायती राज स्थिति रिपोर्ट 2000 : 10-11)। अपितु, वे ग्रामीण विकास और निर्धनतारोधी कार्यक्रमों के लिए लाभार्थियों की पहचान करने में लिप्त रहती हैं।

कार्यक्षेत्र पर आधारित रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि पंचायत के पदाधिकारी इन संस्थाओं को गंभीरता से नहीं लेते हैं और ग्रामीण समुदायों की इनमें कोई रूचि नहीं होती। इसका मुख्य कारण यह है कि ग्राम सभाओं को अधिकांशतः सिफारिश करने वाली, सलाहकार और सुझाव देनी वाली संस्था माना जाता है। इसके अतिरिक्त, ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के लाभ आम व्यक्ति को प्राप्त नहीं होते तो वे इन औपचारिक संस्थाओं से उदासीन हो जाते हैं। जब तक ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के लाभों के बँटवारे में स्थानीय समुदायों की भागीदारी सुनिश्चित नहीं की जाती तब तक ग्राम सभाओं की प्रभावशीलता पर प्रश्न चिह्न लगता रहेगा (मिश्रा एवं मिश्रा, 2002 : 29)।

इस दिशा में एक स्वागत योग्य कदम भारत सरकार ने उठाया है। उसने वर्ष 1999-2000 को "ग्राम सभा वर्ष" के रूप में मनाने की घोषणा की। केन्द्र सरकार ने पहले ही सभी राज्यों से यह सुनिश्चित करने का अनुरोध किया है कि ग्राम सभाओं की कम से कम प्रत्येक तिमाही में बैठक होनी चाहिए और यह बैठक यदि 26 जनवरी, 1 मई, 15 अगस्त और 2 अक्तूबर को हो तो और भी अच्छा है।

समाज के कमज़ोर वर्गों की भागीदारी

संवैधानिक स्थिति प्राप्त होने के कारण पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिका संस्थाओं की तरह ग्राम सभाओं में महिलाओं के लिए एक-तिहाई पदों पर आरक्षण का प्रावधान है। साथ ही 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियमों के अंतर्गत अनुसूचित जातियों (Scheduled Castes; SCs) और अनुसूचित जनजातियों (Scheduled Tribes; STs) के लिए पदों का आरक्षण उनकी आबादी के अनुपात में तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लिए भी कुछ प्रतिशत आरक्षण रखा गया है। इस संवैधानिक गारंटी (प्रावधान) के द्वारा यद्यपि बहुमत का प्रतिनिधित्व और प्रभावशाली भागीदारी है लेकिन यह समाज के कमज़ोर वर्गों के लिए भी सुनिश्चित किया गया है। ग्रामीण और शहरी अधिकार संरचना में कमज़ोर वर्गों की पहुँच को कानूनी रूप से सुनिश्चित किया गया है इस प्रकार व्यवस्था का सामाजिक आधार बड़ा हो गया हैं। इससे उन्हें अपनी समस्याएँ प्रस्तुत करने और भागीदारी निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के माध्यम से उनका समाधान करने का अधिकार प्राप्त हो गया है। वास्तव में आरक्षण ने पंचायतों और नगरपालिकाओं को ग्रामीण और शहरी समुदायों का अधिक प्रतिनिधितात्मक बना दिया है (भारत में पंचायती राज – स्थिति रिपोर्ट – 2000 : 10)

इसमें कोई संदेह नहीं है कि जहाँ कहीं भी पंचायती राज के चुनाव हुए हैं वहाँ आरक्षण नियम के कारण समाज के विभिन्न कमज़ोर वर्गों ने पंचायती राज और नगरपालिका व्यवस्था में विभिन्न स्तरों पर प्रतिनिधित्व किया है। यह जानना उत्साहवर्धक है कि कर्नाटक, मध्य प्रदेश और पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व संवैधानिक 1/3 आरक्षण से काफी अधिक था। आज प्रत्येक पाँच वर्ष पर 10 लाख से अधिक महिलाएँ इन संस्थाओं में निर्वाचित होती हैं और चुनावों में खड़ी होने वाली प्रतिनिधियों की संख्या में तीन गुणा है। हमारे जैसे वंशानुक्रम और पुरुष प्रधान समाज में यह कोई मामूली उपलब्धि नहीं है (मैथ्यू जॉर्ज, चहर, 2005 में उद्धृत)।

शहरी स्थानीय संस्थाओं (Urban Local Bodies; ULBs) के मामले में देखा गया है कि युवा पीढ़ी ने पुरानी पीढ़ी से अधिक सफलता प्राप्त की और उनमें से अधिकतर तुलनात्मक रूप से उनसे अधिक शिक्षित हैं। चुनाव दलीय आधार पर लड़े जाते हैं और कई प्रत्याशी नगरपालिका चुनावों में चुनाव लड़ने के लिए राजनीतिक दलों का सहारा लेते हैं। अतः सत्ता में आने के बाद उन्हें दलों की नीतियों का पालन करना होता है। राजनीतिक दलों की मध्यस्थता के कारण नगर निगम की कार्य प्रणाली का राजनीतिककरण हो जाता है और निगम के दैनिक कार्यों में पार्षदों की भूमिका नगण्य रहती है (गिल, राजेश, 1999: 54)।

फिर किए गए अध्ययनों और सर्वेक्षणों से पता लगता है कि कमज़ोर वर्गों विशेषतः महिलाओं का प्रतिनिधित्व बहुत प्रभावी नहीं रहा है। विभिन्न राज्यों में किए गए सर्वेक्षणों के आधार पर कहा जा सकता है कि अधिकतर मामलों में महिलाओं की भूमिका मूक और बधिर जैसी रही है और औपचारिक पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिका संस्थाओं में उन्होंने अपने पतियों, पुत्रों और अपने परिवारों के अन्य बड़े सदस्यों का प्रतिनिधि के रूप में प्रतिनिधित्व किया है।

ऐसे सर्वेक्षणों से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की प्रभावशाली भागीदारी के सम्बन्ध में भी स्थिति इसी के समान है। कमोबेश आरक्षित चुनाव क्षेत्र से वे ही अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्य निर्वाचित हुए हैं जिन्हें समाज के प्रभावशाली वर्गों का संरक्षण प्राप्त है और पंचायती राज संस्थाओं तथा शहरी स्थानीय संस्थाओं की औपचारिक बैठकों में वे उन प्रभावशाली वर्गों के प्रवक्ता के रूप कार्य करते हैं। यह वास्तव में चिंता की बात है कि क्यों महिलाएँ और अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्य अपनी भूमिका का निर्वाह प्रभावशाली ढंग से नहीं कर पाते। संक्षेप में कहा जा सकता है कि उनके सही निष्पादन न करने के मुख्य कारण हैं अशिक्षा, प्रशिक्षण का अभाव, प्राचीन पारंपरिक आधिपत्य व्यवस्था। इसके अतिरिक्त इन श्रेणियों के लोग जो उच्च जातियों द्वारा पारंपरिक रूप से दबाए जाते रहे हैं अब अपने ही समूहों में प्रभाव द्वारा वशीभूत कर लिए गए हैं (मिश्रा, श्वेता, 2003 : 186)। कर्नाटक में जेम्स मैनोर और रिचर्ड क्रुक द्वारा समुद्र पार विकास प्रशासन के लिए किए अध्ययन में बताया गया है कि अनुसूचित जातियों और महिलाओं के लिए किए गए आरक्षण के बावजूद व्यावहारिक रूप से उच्च जातियों के पुरुष ही चर्चाओं और निर्णय-निर्माण पर आधिपत्य रखते हैं। कई बार तो उन्हें कार्य सूची भी नहीं बताई जाती है (शिवराज सिंह में सिंह; मोहिन्द्र, 2003 : 75)।

कुछ स्थानों पर यह भी देखा गया है कि पंचायती राज और नगरपालिकाओं के प्रतिनिधि अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर रहे हैं। 2002 के उत्तरार्द्ध में बड़े समाचार चैनलों ने मध्य प्रदेश की एक घटना के बारे में सूचना दी। वहाँ ग्राम पंचायत ने एक विद्यालय की अध्यापिका के साथ सामूहिक बलात्कार करने का दण्ड दिया क्योंकि उस महिला अध्यापिका पर अपने सहकर्मी के साथ प्रेम संबंध का आरोप था। यह दर्शाता है कि स्वायत्तता के नाम पर पंचायती राज और नगरपालिकाओं के प्रतिनिधि अपने अधिकारों का दुरुपयोग कैसे कर रहे थे (मिश्रा, श्वेता, 2003 : 186)।

पंचायती राज संस्थाओं में विधायकों और संसद सदस्यों का प्रतिनिधित्व

संसद सदस्यों अथवा सांसदों (Members of Parliament; MPs) और विधायकों (Members of Legislative Assembly) को पदेन सदस्य (Ex-officio members) होने वाले मतदान के अधिकार पर इस आधार पर प्रश्न किए गए कि इससे पंचायतों और नगरपालिकाओं पर उनका प्रभुत्व स्थापित हो जाएगा। इस प्रकार यह विकेन्द्रीकरण की मूल भावना के विपरीत है, अधिकतर राज्यों में विधायक और संसद सदस्य मध्यवर्ती (ब्लॉक/खण्ड) पंचायतों और जिला परिषदों के सदस्य हैं और सम्बन्धित पंचायतों की बैठकों में उन्हें मताधिकार प्राप्त हैं। जबकि मध्य प्रदेश में उन्हें जिला परिषद में मताधिकार नहीं है (लेकिन उन्हें मध्यवर्ती पंचायत में मताधिकार प्राप्त है) लेकिन वे दोनों स्तरों में सदस्य हैं। केरल, महाराष्ट्र और राजस्थान राज्य अपने विधायकों और संसद सदस्यों को मध्यवर्ती और जिला पंचायतों में प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं करते जबकि तमिलनाडु केवल जिला पंचायतों में ही प्रतिनिधित्व प्रदान करता है (गुप्ता, डी. एन, 2004 : 48)।

इस प्रकार समग्रतः राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अधिकतर राज्यों में पंचायतों/नगरपालिकाओं के चुनाव समय पर हुए हैं। सभी राज्यों ने तीनों स्तरों पर निर्वाचित प्रतिनिधियों को राजनीतिक स्थिति प्रदान की है। जहाँ तक सभी लोगों की भागीदारी का सम्बन्ध है, केरल ने लोगों की योजना अभियान के अंतर्गत विशेष उपाय किए हैं, जिससे जागरूकता निर्माण गतिविधियाँ जैसे सांस्कृतिक समारोह, ग्राम बैठकों, द्वार-से-द्वार अभियान और दृश्य एवं मुद्रित जनसंचार माध्यम से सूचना प्रसार आदि की गतिविधियाँ आयोजित की जाती हैं (तत्रैव, 263)।

4.3.2 क्रियात्मक विकेन्द्रीकरण

यह स्थानीय स्तरों पर विषयों और विशिष्ट कार्यों को हस्तांतरित करने का द्योतक है। इसमें अपनी क्रियात्मक भूमिकाएँ निभाने में सक्षम बनाने हेतु कार्यों का हस्तांतरण और कार्यों की परस्पर अंतर स्तरों में कार्यों के विभाजन का अध्ययन किया जाता है।

अधिकारों और कार्यों का हस्तांतरण

जहाँ तक पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं के प्रत्येक स्तर पर अधिकारों और कार्यों के आवंटन का सम्बन्ध है, हम देखते हैं कि पंचायती राज संस्थाओं और स्थानीय संस्थाओं के तीनों स्तरों के मध्य कार्यों का स्पष्ट विभाजन नहीं है। निःसंदेह संविधान की ग्यारहवीं और बारहवीं अनुसूचियों में 29 और 18 मदें शामिल की गई हैं, लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि किस स्तर पर कौन-सा कार्य किया जाएगा। हम देखते हैं कि पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं को सौंपे गए अधिकार और कार्य विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न हैं। अब तक प्राप्त अनुभवों से पता लगता है कि जिला स्तर पर विभिन्न क्रमिक विभाग/अभिकरण, जिला आयुक्त/जिला न्यायाधीश के संपूर्ण पर्यवेक्षण/नियंत्रण में ही कार्यक्रमों और कार्यों का कार्यान्वयन करते हैं। पंचायती राज संस्थाओं को पीछे ही रखा जाता है (बिट्ठल, सी. पी. 1998 : 8)।

पंचायती राज संस्थाओं (Panchayati Raj Institutions; PRIs) के अधिकारों और कार्यों के सम्बन्ध में तीन प्रकार के स्वरूप सामने आए हैं (बाजपेयी, अशोक, 1997 : 136)। प्रथम, वे राज्य जिन्होंने संविधान की ग्यारहवीं अनुसूची में वर्णित विषयों के अनुरूप दैनिक कार्य के रूप में पंचायतों के विभिन्न स्तरों पर किए जाने वाले कार्यों और गतिविधियों की सूची तैयार की है। इन राज्यों ने कुछ अन्य कार्य भी इसमें जोड़ दिए हैं जैसे वार्षिक योजना निर्माण, पंचायतों के निम्न स्तरों पर तैयार योजनाओं को समेकित करना, वार्षिक बजट बनाना, प्राकृतिक आपदाओं में सहायता प्रदान करना आदि। असम, कर्नाटक, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश जैसे राज्य इस श्रेणी में आते हैं। उत्तर प्रदेश में बिना बजट निर्धारित किए ही कार्य दिए गए हैं परन्तु केन्द्रीय रूप से प्रायोजित योजनाओं के अंतर्गत गरीबी निरोधी कार्यक्रमों के लिए राशि आवंटित की जाती है।

दूसरा स्वरूप उड़ीसा, केरल, गुजरात, तमिलनाडु और पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों में प्रचलित है। इन राज्यों में कार्यों को दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है : (क) आवश्यक या अनिवार्य कार्य; और (ख) विवेकाधीन कार्य।

तीसरी श्रेणी में वे राज्य आते हैं जिन्होंने ग्यारहवीं अनुसूची में अनुबद्ध विषयों को ध्यान में रखकर अपनी सूची बनाई है। ये राज्य आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और महाराष्ट्र हैं।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि पंचायती राज संस्थाओं के लिए स्पष्ट कार्य क्षेत्र का वर्णन नहीं है। प्रत्येक मद के लिए प्रत्येक स्तर पर कार्यक्षेत्र को परिभाषित नहीं किया गया है और सम्बन्धित राज्य सरकार के अपने विवेक पर छोड़ दिया गया है। किसी भी स्तर अर्थात् जिला, खण्ड और ग्राम पंचायत पर विभिन्न विषयों के अंतर्गत किसी भी कार्य को विनिर्दिष्ट नहीं किया गया है। लेकिन केरल राज्य में कुछ सीमा तक विभिन्न विषयों के अंतर्गत कुछ कार्यों को तीनों स्तरों पर विनिर्दिष्ट किया गया है (गुप्ता, डी. एम., 2004 : 53)। मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री का विचार ठीक ही है कि, "मुख्य समस्या यह है कि जब तक ग्राम पंचायतों, खण्ड पंचायतों, और जिला परिषदों के अधिकार स्पष्ट रूप से विनिर्दिष्ट करने के लिए संविधान में पुनः संशोधन नहीं किया जाता तब तक संपूर्ण अधिकार मुख्यमंत्री की कुर्सी पर बैठने वाले व्यक्ति के पास रहेंगे कि वह कितने अधिकार देना चाहता है और कितने अपने पास रखना चाहता है। मैं यही देखता हूँ कि पंचायती राज आज कैसी स्थिति में है" (शिवराज सिंह, सिंह मोहिन्दर में उद्धृत, 2003 : 72)।

दूसरी तरफ सभी बड़े राज्यों ने अपनी शहरी स्थानीय संस्थाओं को कुछ दायित्व सौंपे हैं जो इस प्रकार हैं: (i) जन स्वास्थ्य, स्वच्छता, (मल) सफाई व्यवस्था तथा ठोस कचरा प्रबंधन (अनुसूची XII की मद संख्या 6, अनुसूची VII की राज्य सूची की मद संख्या 6); (ii) शहरी सुन्दरता और सुविधाएँ जैसे पार्कों, बागों और क्रीड़ास्थलों का प्रावधान (अनुसूची XII की मद संख्या 12, राज्य सूची की मद संख्या 18 और अनुसूची VII में समवर्ती सूची की मद संख्या 20); (iii) कब्रिस्तानों और दफन स्थलों, दाह संस्कार और शमशानों और विद्युत दाह संस्कार स्थलों का प्रावधान (अनुसूची VII की मद संख्या 14); (iv) जन्म और मृत्यु पंजीकरण सहित जन्म-मृत्यु के आँकड़े (अनुसूची XII की मद संख्या 16 और अनुसूची VII में समवर्ती सूची की मद संख्या 30); (v) बूचड़खानों और चर्मशोधनशाला का नियंत्रण (अनुसूची XII की मद संख्या 18 और अनुसूची VII की राज्य सूची की मद संख्या 15)। अंतिम दो कार्य विनियमन प्रकृति के हैं जबकि बीच की एक मद केवल महानगरों में बड़ी गंभीर समस्या है (चौबे, पी. के., 2004 : 27-28); (vi) लगभग सभी राज्यों ने शहरी स्थानीय संस्थाओं को शहरी वन प्रदेश, पर्यावरण सुरक्षा और पारिस्थितिकी पहलुओं का संवर्धन (अनुसूची XII की मद संख्या 8 और अनुसूची VII में राज्य सूची की मद संख्या 6); दिल्ली इसका बड़ा अपवाद है; (vii) घरेलू, औद्योगिक और व्यावसायिक कार्यों के लिए जल-आपूर्ति (अनुसूची XII की मद संख्या 5 और अनुसूची VII में राज्य सूची की मद संख्या 17); इसके बड़े अपवाद दिल्ली, आंध्र प्रदेश (वास्तव में हैदराबाद) और मध्यप्रदेश हैं; (viii) सड़कें और पुल (अनुसूची XII की मद संख्या 4 और अनुसूची VII में राज्य सूची की मद संख्या 13); इसके बड़े अपवाद उत्तर प्रदेश और दिल्ली हैं; (ix) पशु अवरोधशालाएँ और पशुओं के प्रति हिंसा से बचाव (अनुसूची XII की मद संख्या 15 और अनुसूची VII में राज्य सूची की मद संख्या 15 और समवर्ती सूची की मद संख्या 7); आंध्र प्रदेश इसका बड़ा अपवाद है; (x) स्ट्रीट लाइटों, बस स्टापों और जन सुविधाओं सहित सार्वजनिक सुविधाएँ (अनुसूची XII की मद संख्या 17 और अनुसूची VII में राज्य सूची की मद संख्या 5 और समवर्ती सूची की मद संख्या 20) आंध्र प्रदेश इसका बड़ा अपवाद है (तत्रैव)। (xi). राज्यों ने कुछ अपवादों के साथ विकलांग और मानसिक रूप से अक्षम लोगों सहित समाज के कमज़ोर वर्गों के हितों को सुरक्षा प्रदान की है (अनुसूची XII की मद संख्या 9, राज्य सूची की मद संख्या 9 और अनुसूची VII में समवर्ती सूची की मद संख्या 16); और (xii) सांस्कृतिक, शैक्षिक और नैतिक पहलुओं को बढ़ावा देना (अनुसूची XII की मद संख्या 13, राज्य सूची की मद संख्या 12/33 और अनुसूची VII की समवर्ती सूची की मद संख्या 25) (तत्रैव)।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि शहरी स्थानीय संस्थाओं के मामले में भी स्पष्ट कार्य क्षेत्र का अभाव है। कई राज्यों में कार्यों का हस्तांतरण कानूनी हस्तांतरणं की अपेक्षा कार्यकारी आदेशों के माध्यम से हुआ है ताकि कोई भय होने पर इसे सरलता से वापस लिया जा सके। कुछ राज्यों ने स्थानीय प्रकृति की अपनी योजनाओं को कोष और कार्मिकों के सहित हस्तांतरित कर दिया है। उन्होंने स्थानीय संस्थाओं के पर्यवेक्षण करने और नियंत्रणाधिकार का व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। उन्होंने नियुक्ति, विमुक्ति और पदोन्नति/पदावनति के अधिकार अपने पास रखे हैं। केरल अपने योजना बजट का 40 प्रतिशत तक स्थानीय संस्थाओं के साथ बाँटता है (तत्रैव, 39)।

4.3.3 प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण

इसमें स्थानीय संस्थाओं को योजना निर्माण और कार्यान्वयन के दायित्व सौंपना और कार्मिकों तथा निर्वाचित सदस्यों को भूमिका और दायित्व प्रदान करना शामिल है। इसके अंतर्गत अध्ययन किए जाने वाले विषय हैं : भागीदारी योजना; योजना के लिए संस्थात्मक तंत्र प्रणाली, कार्यान्वयन, समन्वय, पर्यवेक्षण, पारदर्शिता और सहायक प्रणाली आदि। कार्य निष्पादन पक्ष की जाँच की जाती है।

तीनों-स्तरों पर समन्वय की आवश्यकता

पिछले 10 वर्ष के दौरान विकेन्द्रीकरण की एक कमी जो प्रकट हुई वह है एक तरफ पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं के तीनों स्तरों के मध्य समन्वय की समस्या तो दूसरी तरफ नौकरशाही, ग़ैर-सरकारी संगठन (Non-Government Organisation; NGOs) आदि। यदि समन्वय की समस्या पर गहराई से देखें तो निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं : (i) पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं के तीन स्तरों में संविधान की ग्यारहवीं और बारहवीं अनुसूची में वर्णित अधिकारों और कार्यों के वितरण में स्पष्टता का अभाव; (ii) विभिन्न राज्यों के पंचायती राज और नगरपालिका अधिनियम अस्पष्ट हैं कि क्या वे पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं के विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन अभिकरण हैं या वे योजना निर्माण करने वाले और कार्यान्वयन करने वाले दोनों हैं; (iii) ये अधिनियमय पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं और स्थानीय स्तर की नौकरशाही के मध्य सम्बन्ध के बारे में भी अस्पष्ट हैं; और (iv) पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं और ग़ैर-सरकारी संगठनों के बीच खुली प्रतिस्पर्धा की समस्या।

उपरोक्त तथ्य समन्वय की समस्या उत्पन्न करते हैं और विकेन्द्रीकरण की उपयोगिता के बारे में संदेह उत्पन्न करने लगते हैं। यह अच्छी तरह ज्ञात है कि प्राचीन पंचायती राज प्रणाली के अंतर्गत नौकरशाही आधिपत्य होने की भूमिका का निर्वाह करता था और इस प्रकार नई व्यवस्था के अंतर्गत स्थानीय नौकरशाही अपना व्यवहार इतनी आसानी से बदलने को तैयार नहीं है। अधिकतर राज्यों में नौकरशाही को निर्वाचित नेतृत्व की तुलना में प्रमुख पाया गया है। दस्तावेज पर भ्रम रहते हुए भी कुछ राज्यों जैसे कर्नाटक, केरल और पश्चिम बंगाल को छोड़कर अधिकतर राज्यों में नौकरशाही को विकेन्द्रित शासन में प्रभुत्व वाले साँझीदार के रूप में पाया गया है। इसके परिणामस्वरूप जैसाकि उपलब्ध कार्यक्षेत्र के विवरणों से पता लगता है कि यद्यपि पंचायतों में और पदाधिकारियों के बीच सम्बन्ध ऊर्ध्वाधर रूप (संगठनात्मक और कार्यात्मक) में हैं तो भी भूमिका अनुभूति, भूमिका मूल्यांकन और भूमिका निष्पादन के सम्बन्ध में काफी अंतर रहता है (भारत में पंचायती राज – स्थिति रिपोर्ट, 2002: 12)।

इस प्रकार समन्वय की समस्या का समाधान करने के लिए स्थानीय स्तर पर एक नई और दायित्वपूर्ण भागीदारी संस्कृति का निर्माण और विकास करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों के पंचायती राज और नगरपालिका अधिनियमों में आवश्यक संशोधन करना अनिवार्य है जो केवल वास्तविक राजनीतिक और प्रशासनिक इच्छा शक्ति के द्वारा ही किया जा सकता है। पंचायती राज

संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं को स्थानीय समुदाय के लिए विकास कार्यक्रमों की योजना निर्माण और कार्यान्वयन दोनों के लिए जिम्मेदार बनाया जाना चाहिए।

आगे कहा जा सकता है कि यदि नई विकेन्द्रित व्यवस्था ठीक से कार्य नहीं कर रही है तो इसका कारण जिला ग्रामीण विकास अभिकरण (District Rural Development Agency; DRDA) का स्वतंत्र होना है। केन्द्रीय और राज्य सरकार द्वारा प्रायोजित और वित्त घोषित जवाहर रोजगार योजना को छोड़कर लगभग सभी कार्यक्रम जिला ग्रामीण विकास अभिकरण द्वारा लागू किए जाते हैं। इसके फलस्वरूप जिला स्तर पर द्विशासन स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यही कारण है कि 1996 में केन्द्रीय सरकार ने सिफारिश की कि जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को पंचायती राज संस्थाओं के साथ मिला दिया जाए या उसे इसके नियंत्रण में रखा जाए। जहाँ तक हमें जानकारी हैं मध्य प्रदेश, केरल और उत्तर प्रदेश को छोड़कर अन्य किसी भी राज्य ने इस सिफारिश को लागू नहीं किया। संभवतः इसका कारण नौकरशाही और राज्य स्तर के राजनीतिक नेतृत्व के मध्य मिलीभगत हो। हम पूरी तरह ये अनुभव करते हैं कि यदि नई विकेन्द्रीकरण व्यवस्था को सफल होना है तो जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को पंचायती राज संस्थाओं के नियंत्रण में रखना होगा।

जिला योजना समितियों को प्रभावी बनाना

यदि हमने नई विकेन्द्रित व्यवस्था की समीक्षा करनी है तो स्वतः हमारा ध्यान जिला योजना समिति (District Plan Committee; DPC) की अकर्मण्यता की तरफ आकर्षित हो जाता है। अनुच्छेद 243 जेड(डी) के अंतर्गत जिला योजना समितियों को पहली बार 74वें संविधान संशोधन अधिनियम से संवैधानिक स्थिति मिली। लेकिन दुर्भाग्य से जिला योजना समितियाँ अकर्मण्य बन गई। अनेक राज्यों में तो जिला योजना समितियों का गठन ही नहीं हुआ है जबकि हरियाणा और उड़ीसा राज्यों में इसके गठन की प्रक्रिया जारी है। यह आश्चर्यजनक है कि गुजरात राज्य पंचायती राज अधिनियम ने जिला योजना समिति के गठन का कोई प्रावधान नहीं किया है। जिन राज्यों में जिला योजना समितियों का गठन हो गया है वे हैं कर्नाटक, केरल, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, तमिलनाडू, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल (गुप्ता, डी. एन, 2004 : 60)। जिला योजना समिति का अध्यक्ष कौन होना चाहिए क्या जिला पंचायत का अध्यक्ष या जिले का प्रभारी मंत्री या जिले का जिलाधीश; यह विवाद का विषय रहा है। कुछ राज्यों जैसे मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश में जिले का प्रभारी मंत्री जिला योजना समिति का अध्यक्ष होता है। हरियाणा में अध्यक्ष का चयन राज्य सरकार द्वारा नामित सदस्यों में से किया जाता है और तमिलनाडु में जिलाधीश जिला योजना समिति का अध्यक्ष होता है (तत्रैव, 68)। केरल को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में राज्य के विधायक तथा संसद सदस्य जिला योजना समिति के या तो सदस्य होते हैं अथवा विशेष आमंत्रित सदस्य होते हैं। राजस्थान, तमिलनाडु और उत्तर प्रदेश में उन्हें वोट देने का भी अधिकार प्राप्त है। पश्चिम बंगाल के मामले में पंचायत समितियों के अध्यक्ष, विधायक और सांसद जिला योजना समिति के सदस्य बन सकते हैं और विशेष सरकारी आदेश से उन्हें मत (वोट) देने का अधिकार है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिला योजना समिति के गठन में काफी भिन्नताएँ हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि अभी पंचायतों और नगरपालिकाओं द्वारा योजनाओं को गंभीरता से नहीं लिया गया है। कार्य क्षेत्रों के अनुभव भी एकसमान हैं। पंचायत/नगरपालिका योजना निर्माण में अभी भी नौकरशाही की प्रभुत्ववाली भूमिका को देखा जा सकता है। जिला योजना समितियों के वास्तविक एवं प्रभावी कार्य निष्पादन के लिए राज्य सरकारों द्वारा आवश्यक कार्यशैली को अंतिम रूप देना बाकी है। इस प्रकार योजना निर्माण का कार्य अभी भी केन्द्रित रूप से ही हो रहा है। योजनागत और गैर-योजनागत राशि का आवंटन राज्य योजना विभाग द्वारा किया जाता है। अपनी वार्षिक योजना बनाने के लिए आवश्यक मार्गदर्शन और प्रक्रियाएँ पंचायतों को योजना विभाग द्वारा प्रदान की जाती हैं (भारत में पंचायती राज स्थिति रिपोर्ट, 2002: 16-17)।

MPA-016 (H) Book-1

नौकरशाही का प्रभुत्व

विकेन्द्रीकरण की प्रभावी कार्य प्रणाली सुनिश्चित करने के लिए निर्वाचन प्रतिनिधियों और सरकारी कार्मिकों के बीच समन्वय और सहयोग के संदर्भ में सहज कार्यात्मक सम्बन्ध होना बहुत महत्त्वपूर्ण है। लेकिन नई व्यवस्था में हमें असहज प्रवृत्ति देखने को मिली है। राज्य अधिनियमों ने ग्रामीण और शहरी स्थानीय कार्यों के प्रबंधन में नौकरशाही के उच्च दर्जे को बनाए रखा है और नियंत्रण, पर्यवेक्षण अधिकार हस्तांतरण और संकल्प रद्द करने के लिए राज्य सरकारों को पर्याप्त अवसर प्रदान किया है। जिला परिषदों के मुख्य कार्यकारी अधिकारियों (Chief Executive Officers; CEOs) के पास अत्यधिक अधिकार हैं। वे उस प्रस्ताव को लागू नहीं करेंगे जो उनकी दृष्टि से सम्बन्धित कानून के अनुरूप नहीं है। वास्तव में उनके पास वीटो अधिकार है (शिवराज सिंह, सिंह; मोहिन्द्र में उद्धृत, 2003 : 73)। फिर भी कर्नाटक जैसे राज्य में ऐसे अधिकार उच्च स्तरीय पंचायतों के पास हैं। जबकि उड़ीसा में जिला पंचायतों के अध्यक्ष और उपाध्यक्षों को राज्य मंत्री और उपमंत्री का दर्जा प्रदान किया गया है।

ग्राम पंचायतों में कार्यक्षेत्र के कार्मिकों की तैनाती

जहाँ तक ग्राम पंचायत स्तर पर कार्य विभाग के क्षेत्र कार्मिकों की नियुक्ति का सम्बन्ध है, देखा गया है कि केरल, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश को छोड़कर अन्य किसी भी राज्य ने ऐसा प्रावधान नहीं किया है। केरल, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में कृषि, पशुपालन, स्वास्थ्य, एकीकृत बाल विकास योजनाओं (ICDS) आदि जैसे विभागों के अनेक क्षेत्रों के कार्मिकों की तैनाती ग्राम पंचायतों में की जाती है। कर्नाटक, केरल और पश्चिम बंगाल को छोड़कर कई राज्यों में ग्राम पंचायतों के पास या तो कोई भी कार्मिक नहीं है अथवा बहुत सीमित कार्मिक हैं। केरल और मध्य प्रदेश राज्यों में प्रत्येक ग्राम पंचायत के लिए एक सचिव होता है जबकि अन्यों में तीन से पाँच ग्राम पंचायतों के लिए एक सचिव है (गुप्ता, डी. एम., 2004 : 53)

इस प्रकार प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण के अंतर्गत आधारभूत तैयार करने, योजना की कार्य प्रणाली का निर्माण करने और योजना प्रक्रिया बनाने तथा क्षेत्र अधिकारियों और कार्मिकों को प्रशिक्षित करने के लिए सुविधा स्थापित करने के संदर्भ में योजना इकाई की आंशिक रूप से स्थापना की गई है। पारदर्शिता को कानून के द्वारा सुनिश्चित किया गया है और जनता में जागरूकता बढ़ाने के लिए इसके कार्यान्वयन को सुनिश्चित किया गया है (तत्रैव : 263)।

4.3.4 वित्तीय विकेन्द्रीकरण

इसमें स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय स्थिति सुधारने और उसके बाद स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप योजना निर्माण और कार्यान्वयन में स्वायत्तता प्रदान करने के लिए कराधान, राशि कोश और व्यय के लिए अधिकार हस्तांतरित किए गए हैं। पंचायतों और नगरपालिकाओं को राज्य द्वारा वित्तीय अधिकार हस्तांतरित करना बहुत महत्त्वपूर्ण है ताकि पंचायतों की वित्तीय क्षमता में वृद्धि हो। पंचायतों और नगरपालिकाओं की स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार योजना बनाने का अवसर प्रदान करने और व्यय करने के संदर्भ में वित्तीय स्वायत्तता महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

इसके अंतर्गत स्थानीय संस्थाओं द्वारा कर संग्रहण, पंचायतों और नगरपालिकाओं की आय, राज्य द्वारा धन का हस्तांतरण, अंतरपंचायत/नगरपालिका के लिए मानदण्ड तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप पंचायतों/नगरपालिकाओं द्वारा धन और खर्च का हस्तांतरण (वित्तीय स्वायत्तता) जैसे विषयों का अध्ययन किया जाता है। राज्य वित्त आयोगों (State Finance Commissions; SFCs) की भूमिका की भी जाँच की जाती है।

वित्तीय आधार

जहाँ तक स्थानीय संस्थाओं के वित्त का सम्बन्ध है, नई व्यवस्था में अनुच्छेद 243 एच, अनुच्छेद 243 आई और अनुच्छेद 243 एक्स के अंतर्गत कुछ निश्चित कदम उठाए गए हैं जो पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिका संस्थाओं को कर लगाने और संग्रहण करने का अधिकार प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पाँच वर्ष बाद राज्य वित्त आयोग के गठन का भी प्रावधान है। राज्य वित्त आयोग पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिका संस्थाओं के वित्तीय संसाधनों के बारे में राज्यपाल को सिफारिश करता है जिसे लागू करना राज्य सरकार का अनिवार्य कर्त्तव्य है।

यह अनुभव किया गया है कि वित्तीय हालत में कुल मिलाकर कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं है। उन्हें राज्य सरकारों से वित्तीय हस्तांतरण और सहायक अनुदान पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अधिकतर राज्यों ने पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिकाओं को मुद्दे/विषय तो स्थानांतरित कर दिए हैं, परन्तु उनके लिए धन स्थानांतरित नहीं किया है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है कि पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिका संस्थाओं को निःसंदेह कर लगाने और संग्रहण करने का अधिकार है परन्तु वे कर का अनुपात निश्चित करने और ऐसे करों के संग्रहण अधिकार के सम्बन्ध में असमर्थ हैं। यही कारण है कि भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 4 अक्तूबर 2002 को पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिका संस्थाओं के प्रशासनिक और वित्तीय अधिकारों में सुधार के लिए संविधान में संशोधन करने की आवश्यकता बताई क्योंकि वर्तमान में उनके पास अपने संसाधन जुटाने के लिए कोई साधन नहीं है।

फिर भी यह जानना उत्साहवर्धक है कि अधिकतर राज्यों ने राज्य वित्त आयोगों का गठन कर दिया है और उन्होंने विशेषतः केरल, कर्नाटक और पश्चिम बंगाल के मामले में उल्लेखनीय सिफारिश की है। केरल में पंचायतों को कुल योजना व्यय का 35 से 40 प्रतिशत राशि सहायक अनुदान, संयुक्त कोष के रूप में प्राप्त हो जाती है। 1996-97 से राज्य सरकार ने जिला परिषद को एक नियम के साथ कुल राशि स्थानांतरित करने के लिए स्पष्ट कदम उठाए हैं कि वह आगे तीनों स्तरों को धन आवंटित करें। सामान्य श्रेणी कोष को ग्राम, तालुक अथवा खण्ड और जिला पंचायतों में क्रमशः 70 : 15 : 15 के अनुपात में विभाजित किया जाता है। पश्चिम बंगाल में यह अनुपात 50 : 20 : 30 है। कर्नाटक में इसके विपरीत है वहाँ आबंटन 25 : 35 : 40 के अनुपात में है (भारत में पंचायत राज स्थिति रिपोर्ट, 2000, 14-15)।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिका संस्थाओं की आर्थिक स्वायत्तता प्रतिबंधित है। केवल केरल राज्य में ही काफी हद तक स्वायत्तता है क्योंकि यहाँ सामान्य क्षेत्र के अंतर्गत 40 प्रतिशत कोष संयुक्त रूप में था (1997-98)। गुजरात, कर्नाटक, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र जैसे राज्य जिला परिषदों को महत्त्वपूर्ण राशि उपलब्ध कराते हैं। परन्तु वे भी स्वायत्तता के रूप में पंचायतों को अधिक अवसर प्रदान नहीं करते क्योंकि राशि अनिवार्यतः किसी कार्यक्रम या योजना विशेष से संबद्ध होती है। अन्य राज्यों ने भी स्थानीय संस्थाओं को अनेक अधिकार प्रदान तो किए हैं लेकिन वे किसी प्रकार का धन नहीं देते।

सांसदों और विधायकों के क्षेत्र विकास कोषों को पंचायती राज संस्थाओं को स्थानांतरित करना

ये बड़े आश्चर्य की बात है कि एक तरफ तो हम आधारभूत लोकतांत्रिक संस्थाओं को मज़बूत और प्रभावी बनाने का प्रयास कर रहे हैं और दूसरी तरफ सांसद और विधायक क्षेत्र विकास कोष के नाम पर स्थानीय स्तर पर अधिकारों का एक अन्य केन्द्र बना रहे हैं। वैयक्तिक रूप से हमारा मत है कि राजनीतिक नेतृत्व इस तथ्य को जानता है कि यदि पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिका संस्थाओं

को स्वायत्तता प्रदान कर दी गई तो राज्य नेतृत्व का प्रभुत्व समाप्त हो जाएगा। अतः अपना आधिपत्य और प्रभुत्व बनाए रखने के लिए विधायकों और सांसदों के लिए विशेष कोष की स्थापना के लिए मौन सहमति प्रदान कर देते हैं। कई हजार करोड़ रुपयों में चलने वाली सांसद स्थानीय क्षेत्र विकास योजनाएँ (Member of Parliament Local Area Development Schemes; MPLADSs) और विधायक कोष स्थानीय संस्थाओं के साथ विश्वासघात है। नियंत्रक और महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General; CAG) ने योजना कार्यान्वयन में धोखाधड़ी के मामलों का पता लगाया है। धोखाधड़ी के मामले, बिहार, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, मणिपुर, नागालैण्ड और पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों, में ज्ञात हुए है (*पंचायती राज अपडेट,* जून 1998 : 7)। धोखाधड़ी की श्रेणी अभिलेख पुस्तकों में झूठी प्रविष्टियों से लेकर गैर-विकास कार्यों में खर्च करना और सांसदों द्वारा दुरुपयोग करने तक की है (*पंचायती राज अपडेट,* जुलाई 1998 : 5)।

वित्तीय विकेन्द्रीकरण के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि केरल को छोड़कर अन्य किसी भी राज्य ने अपने सम्बन्धित अधिनियमों को कार्यान्वित करते समय विकेन्द्रीकरण के लिए पूर्वापेक्षाओं को स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। केरल में सभी तीनों स्तरों पर धन सीधे ही हस्तांतरित किया जाता है।

समग्रतः विभिन्न राज्यों में विकेन्द्रीकरण के कार्यों का विश्लेषण दर्शाता है कि सभी राज्य विकास व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण में पीछे है लेकिन केवल केरल में विकेन्द्रीकरण प्रक्रिया की कुछ सही दिशा है और कार्यान्वयन के संदर्भ में उसे सफलता भी प्राप्त हुई है।

4.4 विकेन्द्रीकरण : एक लम्बा मार्ग

नैमित्तिक तथ्यों की तलाश करते समय यह याद रखना आवश्यक होगा कि पंचायती राज और नगरपालिका व्यवस्था अभी तक उपरोक्त तथ्यों से संपन्न है। स्थानीय लोकतंत्र की माँग से कोई लोकप्रिय आंदोलन नहीं हुआ है। इस प्रकार यदि कोई राज्य लोकतांत्रिक रूप से निर्वाचित स्थानीय सरकारी संस्थाओं के माध्यम से अपने अधिकार और दायित्वों का विकेन्द्रीकरण करने का निर्णय करता है तो इसे उस राज्य की राजनीतिक इच्छा शक्ति का द्योतक माना जाएगा (घोष, बुद्धदेव व कुमार गिरीश, 2003)।

विकेन्द्रीकरण को विकृत करने वाली बाधाएँ और समस्याएँ असंख्य हैं। लेकिन यह कोई चेतावनी का संकेत नहीं है क्योंकि अभी हम संक्रमण अवस्था से गुजर रहे हैं और सकारात्मक परिणाम आने में किसी भी संक्रमण में समय लगता है। पंचायती राज और नगरपालिका की नई व्यवस्था ग्रामीण और शहरी समुदायों के कई वर्गों से धीरे-धीरे जागृति उत्पन्न कर रही है। कुछ मामलों में शोषण और अतिक्रमण के विरुद्ध आवाज भी उठाई गई हैं।

योजना एवं विकास की किसी योजना में वित्त (धन) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व होता है। स्थानीय स्वसरकार की कोई भी व्यवस्था पर्याप्त धन प्रदान किए बिना सफल नहीं हो सकती। अतः सुदृढ़ संसाधन आधार और व्यापक वित्तीय क्षमताओं के अभाव में विकेन्द्रीकरण असफल हो सकता है। यद्यपि वित्त आयोग के व्यवहार की जागरूकता से पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिकाओं की राजकोषीय क्षमताओं में सुधार की आशा है फिर भी पंचायतों और नगरपालिकाओं के आंतरिक संसाधनों से ही मज़बूत आर्थिक आधार उत्पन्न होना बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त कई कर सम्बन्धी अधिकार और ग्राम पंचायत की आर्थिक लाभदायक संपत्तियाँ जैसे मछली पालन, तालाब, चरागाह तथा अन्य की नीलामी करने जैसे अन्य आर्थिक प्रवधानों से पंचायती राज संस्थाओं की आर्थिक हालत में सुधार होगा (मिश्रा, एस. एन, एस. एस. चहर में उद्धृत, 2005 : 74-75)। पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिका संस्थाओं को पूरी तरह सरकारी आर्थिक अनुदान पर निर्भर रहने की अपेक्षा नए संसाधनों के संग्रहण के कदम उठाने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए जैसे ठेकेदारी

गतिविधियों, ऋणपत्र जारी करने, जनता का योगदान, कर में हिस्सेदारी, कर आवंटन, कर संग्रहण के लिए तुलनात्मक प्रोत्साहन आदि से आमदनी बढ़ाना। इसके अतिरिक्त, पंचायत/नगरपालिका स्तर पर एक उपयुक्त कर संग्रहण तंत्र होना भी आवश्यक है। पंचायती राज संस्थाओं/शहरी स्थानीय संस्थाओं को बिक्री कर जैसे अधिक लचीले और उत्पादक करों का अधिक हिस्सा भी मिलना चाहिए। उन्हें उनके अधिकार क्षेत्र से प्राप्त बिक्री कर का संपूर्ण या कुछ हिस्सा आवंटित किया जाए।

इस दिशा में एक स्वागत योग्य कदम यह है कि ग्यारहवें वित्त आयोग (Eleventh Finance Commission; EFC) के विचारार्थ विषयों के अंतर्गत पहली बार राज्यों को धन आवंटित करने के लिए राष्ट्रपति का आदेश लेना आवश्यक किया गया है। राज्य इस धन को आगे स्थानीय सरकारों को आवंटित करेंगे ताकि इन संस्थाओं के संसाधनों में वृद्धि हो सके (ग्यारहवें वित्त आयोग की रिपोर्ट का अनुच्छेद 8.1)। ग्यारहवें वित्त आयोग ने वर्ष 2000-2005 के लिए पंचायतों के लिए 8,000 करोड़ रुपए की राशि की सिफारिश की है जिसे निम्नलिखित मानदंड के अनुसार राज्यों में वितरित किया जाना है (ग्यारहवें वित्त आयोग की रिपोर्ट, 2000): (i) जनसंख्या 40 प्रतिशत, (ii) विकेन्द्रीकरण की सूची पर 20 प्रतिशत, (iii) उच्चतम प्रति व्यक्ति आय के अंतराल पर 20 प्रतिशत, (iv) राजस्व वसूली प्रयास पर 10 प्रतिशत और (v) भौगोलिक क्षेत्र पर 10 प्रतिशत।

भारत में विकेन्द्रित योजना के कार्यान्वयन पहलु दर्शाते हैं कि इसमें कई खामियाँ हैं जैसे प्रशिक्षित कार्मिकों का अभाव, अत्यधिक भ्रामक योजनाएँ, कठोर योजना प्रक्रिया और गुणवत्ता नियंत्रण तथा संसाधनों की उपलब्धता का अभाव। विकेन्द्रित योजना के उद्देश्य पूरे करने के लिए बुनियादी पूर्वापेक्षा आधारभूत दृष्टिकोण होना चाहिए अर्थात् ग्राम सभा से आरंभ होने वाली योजना प्रक्रिया जिला स्तर तक जाए जो राज्य की योजना में मिश्रित हो और अंत में केन्द्रीय योजना का एक हिस्सा बननी चाहिए। पंचायतों के निर्वाचित प्रतिनिधियों और कार्मिकों की क्षमता का निर्माण, कार्मिकों, संसाधनों के संदर्भ में पंचायत इकाइयों को मज़बूत करना आदि समय की आवश्यकता है। योजना को सरल बनाने वाले के रूप में जिला योजना समिति स्थानीय आकांक्षाओं को अधिक प्रभावी ढंग से पूरा करने में काफी दूर तक जाएगी। इससे भी अधिक पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं की संपूर्ण योजना प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भमिका होती है (सिंह, एस. के., एस. एस. चहर में उद्धृत 2005 : 171-172)।

लोगों की भागीदारी को केन्द्र में रखने वाली ऐसी योजना आवश्यकता के आधार वाली होगी और स्थानीय स्तर पर उनकी आवश्यकता को प्राथमिकता प्रदान करने वाली संस्था ग्राम सभा ही है (मिश्रा और मिश्रा, 2001)। केरल की स्थिति काफी उत्साहवर्धक है और पंचायतों/नगरपालिकाओं को यह दायित्व गंभीरता से लेना होगा। वास्तविक रूप से निम्न स्तर पर योजना बनाने के लिए सहायक वातावरण प्रदान करने हेतु केरल के उदाहरण से अनुभव लेकर राज्य सरकारों को कठोर कदम उठाने चाहिए।

समय की माँग है कि जिला योजना समितियों को प्रभावी बनाना चाहिए और पंचायती राज संस्थाओं तथा नगरपालिकाओं द्वारा जिला स्तर पर बनाई गई योजना को राज्य सरकार द्वारा बिना परिवर्तन किए अनुमोदित कर देना चाहिए। यह भी वांछनीय है कि जिला योजना समिति निम्न स्तर की इकाइयों को अपनी वार्षिक कार्य योजना और समेकित पंचवर्षीय योजना के संदर्भ में उन्हें मार्गदर्शन प्रदान करे।

योजना, परियोजना और कार्यक्रम बनाने और लागू करने में एक समग्र विचारधारा को बढ़ावा देने और सुनिश्चित करने के लिए कर्नाटक और गुजरात ने राज्य पंचायत परिषदों की रचना की है ताकि पंचायतों के बीच संघटन को बढ़ावा मिले और पंचायतों को स्व-नियंत्रण तंत्र अपनाने के लिए प्रेरित किया जा सके। आशा की जाती है कि इस प्रकार का संस्थात्मक प्रबंध व्यवस्था और उसकी प्रक्रिया को सहज उपयुक्तता और स्थायित्व प्रदान करेगा।

केवल ग्राम सभा ही वह संस्था है जहाँ प्रत्येक मतदाता अपनी बात कह सकता है। दुर्भाग्य की बात है इस संस्था की पूरी तरह उपेक्षा की जाती है। व्यवस्था में सुधार के लिए इनका पुनरोद्धार किसी भी उपाय की सर्वोच्च प्राथमिकता होनी चाहिए।

इस दिशा में भारत सरकार ने एक स्वागत योग्य कदम उठाया था। इसने वर्ष 1999-2000 को "ग्राम सभा वर्ष" के रूप में मनाने का निर्णय किया था। यह भागीदारी लोकतंत्र और विकेन्द्रित योजना की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था के महत्त्व की स्पष्ट स्वीकृति है। ग्राम सभा को महासभा के रूप में और ग्राम पंचायत को इसकी कार्यकारी संस्था के रूप में समझना चाहिए। ग्राम पंचायत द्वारा किए जाने वाले सभी निर्णयों पर ग्राम सभा की स्वीकृति आवश्यक होनी चाहिए। ग्राम सभा के पास न केवल अधिकार होने चाहिए अपितु उन्हें विकास में प्राथमिकता का निर्णय करने में इस्तेमाल भी करना चाहिए। गाँव में कोई भी ग्रामीण विकास कार्य आरंभ करने से पूर्व ग्राम सभा की स्वीकृति लेना अनिवार्य होना चाहिए।

ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार ने निर्देश जारी किए हैं कि ग्राम सभाओं को जल्दी-जल्दी और नियमित रूप से बैठकें करनी चाहिए। फिर मंत्रालय ने राज्य सरकारों से अनुरोध किया है ग्राम सभा की वर्ष की प्रत्येक तिमाही में कम से कम एक बैठक अवश्य होनी चाहिए। इसके पीछे पूरा उद्देश्य ग्राम सभा को स्थानीय स्तर पर योजना और कार्यान्वयन का प्रभावी साधन बनाना है तथा यह भी उद्देश्य है कि ग्राम स्तर पर पारदर्शिता एवं दायित्व भी स्थापित किए जा सके। ये प्रयास कितने सफल होंगे यह अभी देखना है (मिश्रा, श्वेता, अलका धमेजा में उद्धृत, 2003 : 188)।

पंचायतों और नगरपालिकाओं को विशिष्ट कार्य सौंपने के लिए क्रियात्मक विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। पहले कदम में बुनियादी विषय जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, महिला और बाल विकास, कृषि और संबद्ध कार्य तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Public Distribution System; PDS) आदि हस्तांतरित किए जाने चाहिए। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि केवल विषय स्थानांतरित करना ही काफी नहीं है अपितु मूलतः आवश्यक है वितरण तंत्र की स्थापना करना अन्यथा पंचायतों और नगरपालिकाओं से कार्य निष्पादन की अपेक्षाएँ की जाएगी लेकिन वे ऐसा करने में सक्षम नहीं होंगी। पंचायतों और नगरपालिकाओं की एक बार क्षमता में सुधार आने के बाद स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार अन्य विषय स्थानांतरित किए जाने चाहिए (गुप्ता, डी.एन, 2004 : 296)।

समन्वय की समस्या का समाधान करने के लिए स्थानीय स्तर पर नई दायित्वपूर्ण भागीदारी संस्कृति का निर्माण और विकास करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों के पंचायती राज और नगरपालिका अधिनियमों में भी आवश्यक संशोधन किया जाना चाहिए। यह दृढ़ राजनीतिक और प्रशासनिक इच्छा शक्ति से ही संभव होगा। पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं को स्थानीय समुदाय के लिए विकास कार्यक्रमों की योजना बनाने और कार्यान्वित करने के लिए दोनों कार्यों के लिए उत्तरदायी बनाना आवश्यक है और इस बारे में उनकी क्षमताओं में वृद्धि करना भी आवश्यक है। इसलिए यदि पंचायती राज संस्थाओं को प्रभावी बनाना है तो जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को इन संस्थाओं के नियंत्रण में रखने की आवश्यकता है ताकि लोगों के प्रतिनिधियों को विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में शामिल किया जा सके। पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं के आवधिक चुनाव कमज़ोर वर्गों के ज्ञान में वृद्धि करने और सामाजिक तथा राजनीतिक जागरूकता लाने के मार्ग में मील का पत्थर होंगे।

पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं की कार्य प्रणाली में सुधार के लिए कई राज्य नए-नए उपायों का प्रयोग कर रहे हैं। राज्य में ग्रामीण विकास योजनाएँ के कार्यान्वयन में पारदर्शिता बनाए रखने के लिए असम सरकार ने प्रत्येक खण्ड में सतर्कता और पर्यवेक्षण समितियों की स्थापना के आदेश जारी किए हैं (अलका धमेजा में मिश्रा, श्वेता, 2003 : 188)। भारत में पंचायती राज का संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की रिपोर्ट 2002 में भी विशेष वर्णन किया गया है। यह इस तथ्य की

पुनरावृत्ति है कि सिद्धान्ततः केन्द्र से प्रांतों, जिलों या गाँवों को अधिकारों का विकेन्द्रीकरण लोगों को निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में अधिक प्रत्यक्ष रूप से भागीदारी करने में सक्षम बनाता है। लेकिन वास्तव में, यह साधारणतः एक विशिष्ट समूह से दूसरे विशिष्ट समूह को अधिकार हस्तांतरण है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण लोगों की वास्तविक आवाज बन सकता है परन्तु इसके लिए भागीदारी विशेषतः प्रायः उपेक्षित लोगों की भागीदारी बढ़ाना आवश्यक है और स्थानीय स्तर पर सार्वजनिक कार्मिकों की जिम्मेदारी भी बढ़ानी होगी (अद्यतन पंचायती राज, अगस्त 2002)। लोगों को जागरूक बनाने और सुव्यवस्थित शैक्षणिक कार्यक्रमों के द्वारा उन्हें शिक्षित करने के महत्त्व को बढ़ांवा देने की आवश्यकता है। एक तरीके से लोगों की भागीदारी को पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं के द्वारा स्वदेशीकरण करने की आवश्यकता है।

राष्ट्र, पुनर्निर्माण और पुनर्वास के वृहत् कार्य के लिए उपयुक्त संगठनात्मक संरचनाएँ बनाने और संस्थात्मक प्रबंध करने की आवश्यकता है। जिससे लोग सरकारी प्रक्रिया में संघटित होंगे। इसमें प्रशासक और जनता के बीच परस्पर भागीदारी का वातावरण बनाने का कार्य भी किया जाना चाहिए (मिश्रा, एस.एन. तथा शर्मा, कौशल, 1983)। इस तरीके से एक संतुलित आर्थिक विकास के लिए लोगों के प्रयास स्वतः सरकारी अधिकारियों के प्रयासों के साथ मिल जाएँगे जिससे सामाजिक और राजनीतिक विकास की प्रक्रिया आरंभ होगी। इस बात पर ज़ोर देने की आवश्यकता नहीं है कि सरकारी तंत्र का विकेन्द्रीकरण करना होगा और लोगों के दरवाजे तक ले जाना होगा जहाँ जनता की भागीदारी को प्रभावशाली ढंग से सुनिश्चित किया जा सके।

पारदर्शिता को बनाए रखने के लिए सुझाव है कि सभी वित्तीय विवरण पंचायतों और नगरपालिकाओं के कार्यालय के बाहर प्रदर्शित किए जाएँ तथा सभी सदस्यों को वितरित किए जाएँ। इसके अतिरिक्त लेखा जाँच भी पारदर्शी होनी चाहिए अर्थात् लेखा परीक्षकों की आपत्तियाँ सभी वार्ड सदस्यों को दी जानी चाहिए (तैयार करने की अवस्था में पंचायतों/नगरपालिकाओं द्वारा उत्तर भेजने से पूर्व))। अंतिम रिपोर्ट पंचायत/नगरपालिका की आर्थिक समिति और ग्राम सभा/वार्ड सभा के समक्ष रखी जानी चाहिए (गुप्ता, डी.एन, 2004 : 296)।

पंचायत और नगरपालिका अधिनियमों के कार्यान्वयन में, स्थानीय संस्थाओं के निर्माण में, वैधानिक संरचना के निर्माण में और लोगों की भागीदारी तथा उनके द्वारा अवसरों का लाभ उठाने के लिए उपयुक्त वातावरण बनाने में राज्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। समय की आवश्यकता है कि नीतियों के माध्यम से राज्य की सकारात्मक मध्यस्थता हो क्योंकि मानव संसाधन विकास और संस्थात्मक विकास बहुत महत्त्वपूर्ण है इनसे विकेन्द्रीकरण प्रक्रिया मज़बूत होगी। इसके अतिरिक्त भूमंडलीकरण के जमाने में केन्द्र तथा राज्य सरकारों को भी स्थानीय संस्थाओं के लिए महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान करनी होगी क्योंकि भूमंडलीकरण का ग्रामीण जीवन पर भी निश्चित रूप से प्रभाव पड़ेगा। राज्य को स्थानीय स्तरों पर संस्थात्मक संरचनाएँ बनानी होंगी तथा विश्वव्यापी व्यापार, संप्रेषण प्रणाली, वातावरण, श्रम कानूनों आदि की चुनौतियों का सामना करने तथा शासन के मानकों पर खरा उतरने के लिए मानक निर्धारित करने होंगे।

उपरोक्त चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय संस्थाओं की क्षमता में सुधार के लिए उपरोक्त उपाय आवश्यक होंगे। चित्र 1 में पंचायती राज/नगरपालिका व्यवस्था के आवश्यक घटक दर्शाए गए हैं तथा चित्र 2 में पंचायती राज/नगरपालिका व्यवस्था के वर्तमान स्वरूप में स्थिति समस्याएँ दर्शाई गई हैं।

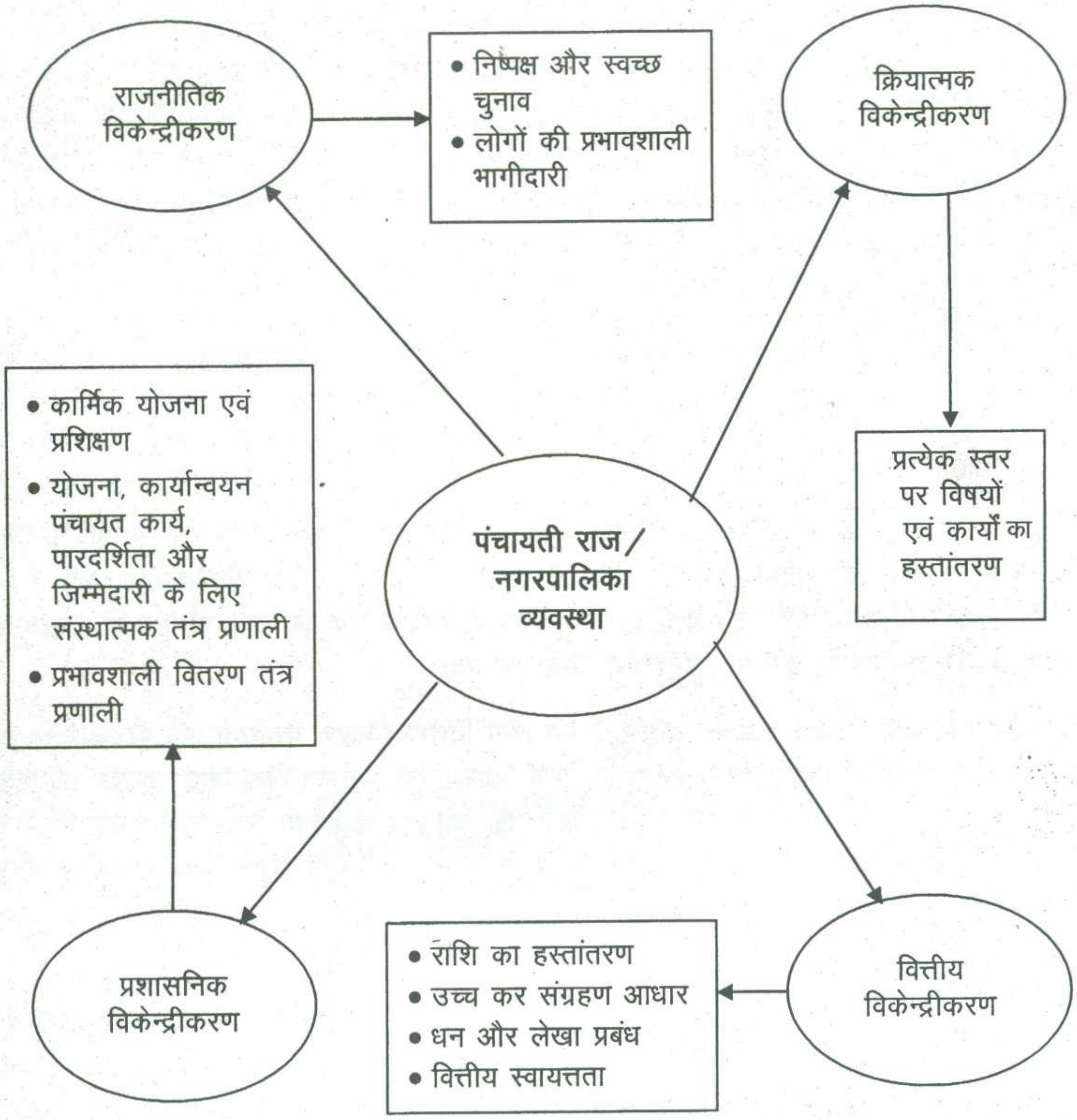

चित्र 1: पंचायती राज/नगरपालिका व्यवस्था के आवश्यक तत्व

स्रोत : गुप्ता, डी. एन., 2004, *डिसेन्ट्रलाइजेशन नीड फॉर रिफार्म्स,* कंसेप्ट, नई दिल्ली पृ. 92।

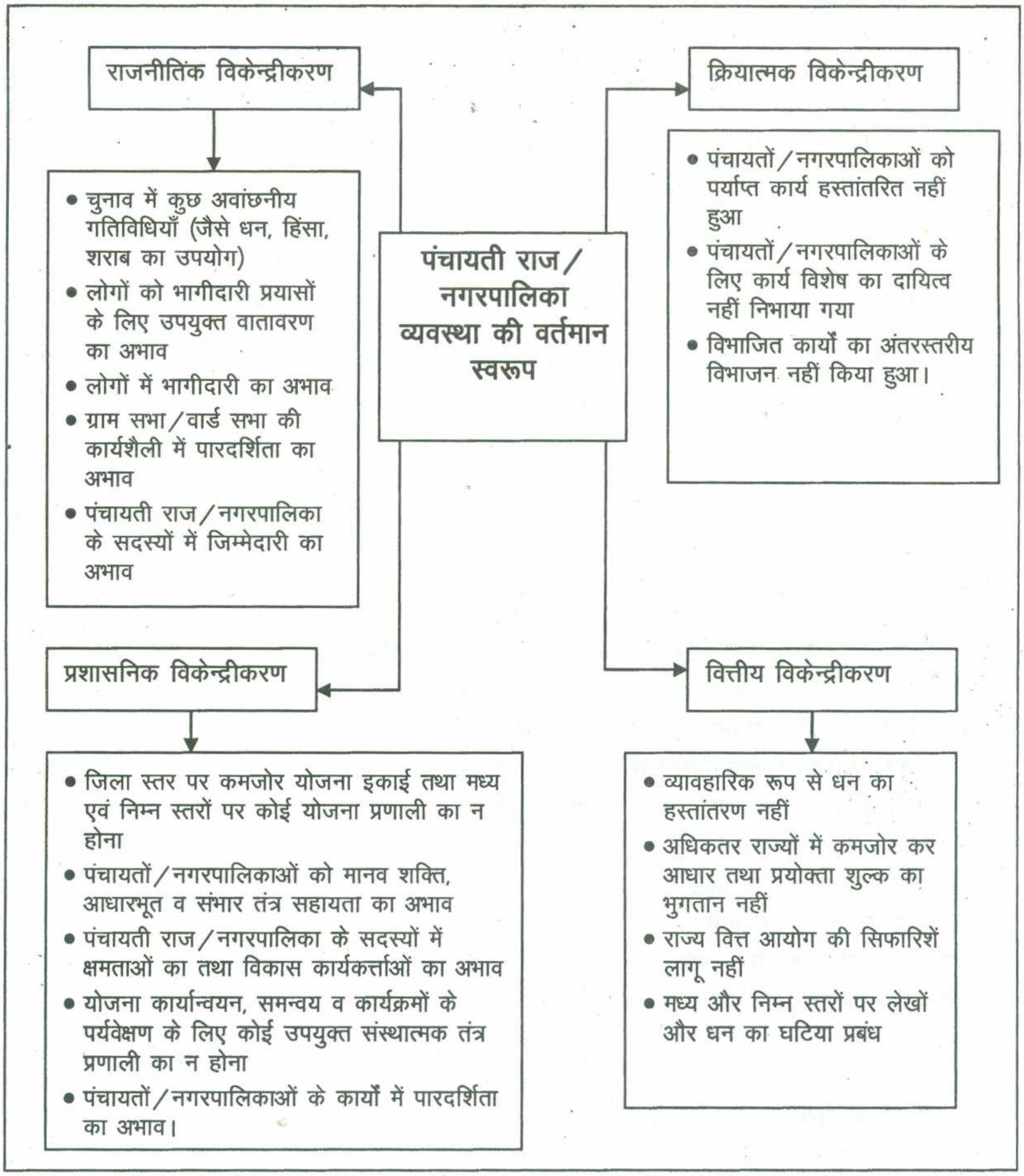

चित्र 2: पंचायती राज/नगरपालिका व्यवस्था की वर्तमान स्वरूप में समस्याएँ

स्रोत : गुप्ता, डी. एन., 2004, *डिसेन्ट्रलाइजेशन नीड फॉर रिफार्म्स,* कंसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली।

4.5 सारांश

हमारे अनुभव के अनुसार विकेन्द्रीकरण कोई जादू की छड़ी नहीं है। विकेन्द्रीकरण की सफलता और असफलता स्थापित संस्थाओं की प्रकृति, हस्तांतरित अधिकार और धन की मात्रा, क्षेत्र में स्थित समूहों में अधिकार आबंटन का स्वरूप और नागरिक समाज की भागीदारी पर निर्भर करती है। यह याद रखना उपयोगी है कि यदि विकेन्द्रित सरकार को सावधानी से कार्यान्वित किया जाता है तो यह सामाजिक सम्बद्धता और लोक सशक्तिकरण के लिए सर्वाधिक सक्षम तंत्र प्रणाली है (दक्षिण एशिया में मानव विकास, 1999)।

यदि नियमित चुनाव और महिलाओं, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों की इन संस्थाओं में अनिवार्य भागीदारी को ठोस रूप में रखा जाए तो विकेन्द्रित शासन की नई व्यवस्था स्थायित्व का तत्व प्रदान कर सकती है और आधारभूत स्तर पर भागीदारी प्रक्रिया को व्यापक बना सकती है। सामाजिक और नौकरशाही रूपांतरण के सम्बन्ध में इतनी चिंता की बात नहीं है क्योंकि ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में जनता धीरे-धीरे परन्तु निरंतर जागृत हो रही है और अपने सरोकार उठाने लगी है। अनेक सच्चे गैर-सरकारी संगठन और स्वावलम्बन समूह उनकी क्षमताओं और अधिकारों के बारे में उन्हें जागरूक बनाने और बेहतर एवं संपूर्ण जीवन का मार्ग दिखाने के लिए भी उनके पास पहुँच रहे हैं। आने वाले वर्षों में ग्रामीण और शहरी जनता के अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे में अधिक सजग होने की संभावना है। इसलिए योजना प्रक्रिया को लोगों की पर्याप्त भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी।

नौकरशाही को भी यह स्वीकार करने के लिए अनुकूल होना होगा कि जनता विकास प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण संघटक है। जन प्रतिनिधियों को भी सामान्य जनता के प्रति अपना दृष्टिकोण और अनुंभूति को बदलना होगा। उच्च जातियों को अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के प्रति अपनी पारंपरिक मानसिकता को बदलना होगा। जनता लहर पहले ही आरंभ हो चुकी है बस इसके प्रभाव का अनुभव करने में अभी कुछ समय और लगेगा। नियमित चुनावों के द्वारा नेतृत्व में परिवर्तन और पुनर्परिवर्तन और स्थानीय समुदाय के राजनीतिकरण स्तर में वृद्धि से निकट भविष्य में विकेन्द्रित शासन व्यवस्था की सफलता सुनिश्चित होगी।

विकेन्द्रीकरण प्रक्रिया 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 के पारित होने के बाद आरंभ हुई। नए विधान के अंतर्गत देश के लगभग सभी राज्यों में सभी तीन स्तरों पर पंचायतों और नगरपालिकाओं की स्थापना हुई तथा चुनाव आयोजित किए गए। राज्यों ने पंचायतों और नगरपालिकाओं को कार्य हस्तांतरित करने और धन आवंटित करने के कुछ उपाय किए। इसके बावजूद पंचायतों और नगरपालिकाओं को आधारभूत स्तर पर शासन की समस्याओं का समाधान करने के अति कठिन कार्य का सामना करना पड़ता है। अनुभव दर्शाते हैं कि शासन के अपेक्षित मानकों को पूरा करने के लिए पंचायतों और नगरपालिकाओं के समक्ष प्रस्तुत चुनौतियों को दूर करने की आवश्यकता है। इस प्रक्रिया में राज्य को महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना है ताकि आधारभूत स्तर पर सही प्रकार की शासन व्यवस्था स्थापित हो सके। यद्यपि विकेन्द्रीकरण के अंतर्गत स्थानीय कार्यों/मामलों का प्रबंध पंचायतों और नगरपालिकाओं ने करना होता है तो भी संस्था निर्माण और कानूनी संरचना के लिए नीति और कार्यक्रम मध्यस्थताओं के माध्यम से राज्यों को अपेक्षित सहायता प्रदान करनी पड़ती है। किए जाने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य लोगों का सशक्तिकरण, कार्यों का हस्तांतरण और धन का आबंटन, पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, योजना इकाई एवं वितरण व्यवस्था हैं। और जब इन कार्यों को अधिनियम के द्वारा ठोस रूप में किया जाएगा तभी विकेन्द्रीकरण व्यवस्था सही परिप्रेक्ष्य में स्थापित की जा सकती है।

4.6 मुख्य अवधारणाएँ

शहरी स्थानीय संस्थाएँ (Urban Local Bodies; ULBs) : यह विभिन्न स्तरों पर नगरपालिकाओं का द्योतक हैं। अर्थात् परिवर्ती क्षेत्र (निम्नतम स्तर) के लिए एक नगर पंचायत; लघुतर शहरी क्षेत्र (मध्य स्तर) के लिए एक नगर परिषद; तथा बड़े शहरी क्षेत्र के लिए एक नगर पालिका।

4.7 संदर्भ व अन्य लेख

बाजपेयी, अशोक, 1997, *पंचायती राज एण्ड रूरल डेवलपमेंट,* साहित्य प्रकाशन, दिल्ली।

चौबे, पी.के., 2004, *अर्बन लोकल बोडिज इन इंडिया,* भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली।

घोष, बुद्धादेव एवं कुमार, गिरीश, 2003, *स्टेट पॉलिटिक्स एंड पंचायत्स इन इंडिया,* मनोहर, नई दिल्ली।

भारत सरकार, 2004, ग्यारहवाँ वित्त आयोग रिपोर्ट, (2000-2005), नई दिल्ली, जुलाई।

गुप्ता, डी. एन., 2004, डिसेन्ट्रलाइजेशन नीड फॉर रिफार्म्स, कंस्पेट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली।

ह्यूमन डेवलपमेंट इन साउथ एशिया 1999 : दी क्राईसिज ऑफ गवर्नेन्स, महबूब उल हक ह्यूमन डेवलपमेंट सेंटर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड।

केवैक, गर्ट डब्ल्यू, माथुर, एस. सी. एवं शीन्डलर, क्लौस, 1998, *फैडरलिज्म एंड डिसेन्ट्रलाइजेशन,* कोनार्ड एडनेवर फाउंडेशन, नई दिल्ली।

मैथ्यू, जॉर्ज, 2005, "टेन इयर जरनी ऑफ न्यू पंचायतस" एस एस चहर (संपा.) *गवर्नेंस एट ग्रासरूट्स लेवल इन इण्डिया,* कनिष्का, नई दिल्ली।

मिश्रा, एस. एन., 2005 "द सेवेंटी थर्ड कांस्टीट्यूशन अमेंडमेंट एण्ड द लोकल रिसोर्स बेस : ए क्रीटिल अपरजल", एस एस चहर (संपा.) *गवर्नेंस एट ग्रासरूट्स लेवल इन इण्डिया,* कनिष्का, नई दिल्ली।

मिश्रा, एस. एन. एवं मिश्रा श्वेता, 2002, *डिसेन्ट्रलाइज्ड गवर्नेंस,* शिप्रा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

मिश्रा, एस. एन. एवं शर्मा, कौशल, 1983, *प्रॉब्लम्स एंड प्रोस्पेक्टस ऑफ रूरल डेवलपमेंट इन इंडिया,* उप्पल, नई दिल्ली।

मिश्रा, श्वेता, 2003, "डिसेन्ट्रलाइजेशन : कन्सेप्ट, करेक्टरस्टिक्स ऑफ कंस्ट्रेन्स" अल्का धमेजा, (संपा) कंटम्पेरेरी डिबेट्स इन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, प्रेटिन्स हॉल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली।

पंचायती राज इन इंडिया, मार्च, 2000, – स्टेट्स रिपोर्ट 1999, टॉस्क फोर्स ऑन पंचायती राज, राजीव गांधी फाउण्डेशन, नई दिल्ली।

पंचायती राज अपडेट, खण्ड 9, संख्या 6, जून 1998, सामाजिक विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली।

पंचायती राज अपडेट, खण्ड 9, संख्या 7, जुलाई 1998, सामाजिक विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली।

पंचायती राज अपडेट, खण्ड 9, संख्या 8, अगस्त 2002, सामाजिक विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली।

सिंह मोहिंदर, 2003, "डेमोक्रेटिक डिसेन्ट्रलाइजेशन इन इंडिया ऑफ्टर सेवंटी थर्ड एमैन्डमेंट" शिव राज सिंह एवं अन्य (संपा.) पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, इन दी न्यू मिलेनियम, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

सिंह, एस. के., 2005, "डिस्ट्रिक प्लानिंग कमेटी : प्रोब्लम्स एण्ड प्रोस्पेक्टस", एस एस चहर (संपा.) *गवर्नेंस एट ग्रासरूट्स लेवल इन इण्डिया,* कनिष्का, नई दिल्ली।

शिवारामकृष्णन, के.सी., 2000, *पॉवर टू पीपुल्स? : दी पॉलिटिक्स एण्ड प्रोग्रेस ऑफ डिसेन्ट्रलाइजेशन,* कोनार्क पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

विठ्ठल, सी. पी., दिसम्बर 1998, "डिवोल्यूशन ऑफ पॉवर्स एंड फंक्शनस टू पंचायती राज इंस्टीट्यूशन, कुरुक्षेत्र, खण्ड 47, संख्या 2।

4.8 अभ्यास

1) 73वें तथा 74वें संविधान संशोधन अधिनियमों के संदर्भ में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की वैधानिक संरचना और कार्य प्रणाली का वर्णन कीजिए।

2) नई व्यवस्थाओं की समस्याओं की चर्चा कीजिए और उनकी सुचारु कार्य प्रणाली के लिए सुझाव भी दीजिए।

इकाई 5 विकेन्द्रित विकास के घटक – I : सशक्तिकरण

रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 सशक्तिकरण : संकल्पना

5.2.1 सशक्तिकरण की आवश्यकता

5.2.2 सशक्तिकरण : राष्ट्रीय प्रयास

5.2.3 सशक्तिकरण : बुनियादी सूत्रपात अथवा प्रयास

5.2.4 सशक्तिकरण : संचालन संरचना

5.3 सशक्तिकरण : समस्याएँ और बाधाएँ

5.4 सशक्तिकरण : लम्बा मार्ग तय करना (काफी कार्य करना)

5.5 सारांश

5.6 मुख्य अवधारणाएँ

5.7 संदर्भ व अन्य लेख

5.8 अभ्यास

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- सशक्तिकरण (Empowerment) के अभिप्राय को स्पष्ट कर सकेंगे;
- सशक्तिकरण की आवश्यकता के बारे में चर्चा कर सकेंगे;
- सशक्तिकरण के लिए किए गए विभिन्न प्रयासों का वर्णन कर सकेंगे;
- सशक्तिकरण की संचालन संरचना (Operational framework) का विश्लेषण कर सकेंगे;
- सशक्तिकरण के मार्ग में आने वाली समस्याओं और रुकावटों की चर्चा कर सकेंगे; और
- सशक्तिकरण को प्रभावी एवं सार्थक बनाने के लिए सुझाव प्रदान कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

आधुनिक राज्य के कार्यों में विविधता, संख्या और जटिलता में वृद्धि होने के फलस्वरूप सरकारी सेवा के प्रशासनिक संगठन में विकेन्द्रीकरण एक मुख्य तथ्य बन गया है। संगठन में निम्न स्तरों पर निर्णय-निर्माण अधिकार विभाजन के संदर्भ में विकेन्द्रीकरण (मीनाक्षी सुन्दरम्, एस. एस; 1994: 10) को अधिकार विभाजन की संगठनात्मक संरचना के संदर्भ में समझना चाहिए। इसे शासन की उस वैकल्पिक प्रणाली के रूप में देखा जाता है जहाँ आर्थिक और सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए स्थानीय समस्याओं के समाधान हेतु जन अभिकेन्द्रित विचारधारा का पालन किया जाता है। इस प्रकार

विकेन्द्रित विकास के मुख्य तत्वों (घटकों) में एक सशक्तिकरण बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जहाँ व्यक्ति को अधिकार के केन्द्र में रखा जाता है और वह विकास प्रक्रिया का लाभार्जक नहीं अपितु बुनियादी संचालक बन जाता है जो अब तक केवल लाभार्जक था (कोठारी, रजनी; 1994 : 48)।

भारत के मामले में, स्वतंत्रता से इस दिशा में प्रयास किए गए हैं। महिलाओं और कमज़ोर वर्गों को सशक्त बनाने के पक्ष में ज़ोर-शोर से आवाजें उठाई गई हैं। इस दिशा में एक अभिनंदनीय कदम 73वाँ और 74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित करना था। ये अधिनियम अपनी जनसंख्या के अनुपात में महिलाओं और अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों को एक तिहाई आरक्षण प्रदान करते हैं और बुनियादी स्तर पर सामाजिक संघटन प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के अवसर प्रदान करते हैं।

5.2 सशक्तिकरण : संकल्पना

सशक्तिकरण का अर्थ है विभिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न चीजें प्रदान करना है। इस प्रकार इस शब्द की व्याख्या करना तथा एक उपयुक्त परिभाषा देना महत्त्वपूर्ण हो जाता है। सशक्तिकरण का अभिप्राय है भागीदारी करने, किसी के साथ समझौता करने, प्रभावों को नियंत्रित करने और अपने जीवन को प्रभावित करने वाली उत्तरदायी संस्थाओं को बनाए रखने के लिए निर्धन लोगों की संपत्ति और क्षमताओं में वृद्धि करना। बीजिंग में महिलाओं पर हुए चौथे सम्मेलन में भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत देश की रिपोर्ट के अनुसार "सशक्तिकरण का अर्थ है किसी पर दबाव के किसी अंश से थोपी गई अधिकारहीनता को हटाकर फिर से अधिकार देने की क्रियाविधि। इससे महिलाओं के वंशानुगत अधिकार और सकारात्मक आत्मसम्मान में वृद्धि होगी" (चौहान, एस.एस.एस. और बंसल, गौरव; 2002 : 10)। केल्लर और मेबेवे (Keller and Mbewe) के अनुसार "सशक्तिकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा महिलाएँ अपना आत्मसम्मान बढ़ाने, आत्मनिर्भर होने, अपना विकल्प चुनने और संसाधनों पर नियंत्रण करने के अपने अधिकार पर ज़ोर देने के लिए स्वयं को संगठित करने में समर्थ हो जाती है। इससे उन्हें अपनी अधीनस्थता को चुनौती देने और उसे समाप्त करने में सहायता मिलेगी (गुना बी; 2002 : 3)। प्रोमिला कपूर सशक्तिकरण को उस प्रक्रिया के रूप में उद्धृत करती है जिसमें महिलाएँ संसाधनों – सामग्री, मानव और बौद्धिकता जैसे ज्ञान, सूचना, विचारों और संसाधन जैसे धन तथा धन तक पहुँच आदि पर नियंत्रण में अधिक अधिकार प्राप्त करती हैं। इस प्रकार वे गृह, समुदाय, समाज और देश में निर्णय करने में नियंत्रण करती हैं तथा शक्ति प्राप्त करती हैं (चौहान और बंसल; तत्रैव)।

सशक्तिकरण का अभिप्राय है कार्यों को करने में केवल निर्देश सुधार नहीं अपितु सर्वोत्तम ढंग से करने में मुक्त रहना। इसका अभिप्राय है कि शक्ति प्रदान करना और स्वयं में शक्ति उत्पन्न करना। इस प्रक्रिया से गुजरने वाले लोग अंततः परिवर्तन का नेतृत्व करते हैं। इसका अर्थ अधिकार और दायित्व प्रदान करना है। यह तब उत्पन्न होता है जब किसी के पास पहले कोई अधिकार नहीं होता उसे अधिकार दिया जाए तो अधिकार मिलने के बाद वह स्वामी होने और नियंत्रण करने का अनुभव करने लगता है (लक्ष्मीनारायण, पी; 1999 : 78)। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है कि व्यक्तियों को ज़ीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकार प्रदान करना जो मानव जाति के जीवन और समग्र विकास के लिए यह आवश्यक है।

नेली स्ट्रोमक्विस्ट (Nelly Stromquist) सशक्तिकरण को "अंतर्वैयक्तिक सम्बन्धों और संपूर्ण समाज में संस्थाओं दोनों में अधिकार वितरण की परिवर्तन प्रक्रिया" के रूप में परिभाषित करता है (शर्मा, अशोक, 2002 : 81)।

इसी प्रकार लूसी लाजो (Lucy Lazo) "इसे संसाधनों और साधनों को प्राप्त करने, प्रदान करने, अर्पित करने अथवा ऐसे साधनों और संसाधनों के नियंत्रण तक पहुँच की प्रक्रिया के रूप में वर्णित करता है" (तत्रैव)। श्रीलता बालिवाला ने ठीक ही कहा है "कि सशक्तिकरण सामाजिक न्याय और समानता के

लिए महिलाओं के संघर्ष से संबद्ध है (तत्रैव)। किरण देवेन्द्र के अनुसार, महिलाओं के सशक्तिकरण का अर्थ है महिलाओं का आर्थिक रूप से स्वतंत्र और आत्मनिर्भर होना तथा सकारात्मक आत्मसम्मान रखना ताकि वे किसी कठिन स्थिति का सामना कर सकें। उन्हें विकास गतिविधियों और निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में शामिल होना चाहिए" (तत्रैव)।

सशक्तिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें महिलाएँ समाज के सभी स्तरों जैसे अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, स्थानीय और गृह स्तरों पर अपने अधिकारों को जानने और उनकी माँग करने के द्वारा अपने जीवन पर स्वयं का नियंत्रण रखती हैं यह और कुछ नहीं अपितु उत्पीड़न, अन्यांय और भेदभाव के विरुद्ध धार्मिक, सांस्कृतिक और कानूनी संघर्ष है। संक्षेप में, यह प्रत्येक समूह को अपनी तरह से जीवन जीने और अपने किसी भी प्रयासों में सफल होने की अधिक संभावना के स्तर पर पहुँचने के लिए परिवर्तन में सक्षम होने के लिए संगठित और सक्रिय होने की योग्यता है। यह निरंतर जारी रहने वाली प्रक्रिया है जो स्वतः समाप्त नहीं होती (रेड्डी, जी. नारायण, 2002 : 515)।

सारांशतः सशक्तिकरण को व्यक्ति द्वारा स्वयं अपने जीवन की दिशा और नियंत्रण की योग्यता के रूप में भी परिभाषित किया जाता है। यह विकल्पों और अवसरों का विस्तार करने की मानवीय क्षमताओं को व्यापक बनाने की ऐसी प्रक्रिया है ताकि प्रत्येक व्यक्ति सम्मान और मूल्यवान जीवन व्यतीत कर सके। यह मानव विकास के लिए नैतिक वैधता और सामाजिक न्याय के सिद्धान्त का समर्थन करती है। इसका अर्थ है कि महिलाएँ स्वायत्तता को प्राप्त करें ताकि वे अपने ढंग से जीवन कार्य निर्धारित करें और आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में पूरी तरह भागीदार हों (राव, डी.पी. और राव डी.बी. 6)।

5.2.1 सशक्तिकरण की आवश्यकता

जीवन की उपयुक्तता की आवश्यकता के कारण अभावग्रस्त समूहों की अत्याधिक बहुसंख्या ने सामूहिक अधिकारों पर व्यापक ज़ोर डाला। अभावग्रस्त समूहों का विभिन्न प्रकार से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शोषण होता रहा है। उनके साथ मानव की निम्न श्रेणी का व्यवहार किया गया है।

कुल आबादी का लगभग 50 प्रतिशत हिस्सा रही महिलाओं को विकास के बहुत कम अवसर प्राप्त हुए हैं। प्रायः उन्हें शिक्षा, अच्छी नौकरियों, राजनीतिक प्रणालियों में शामिल होने और स्वास्थ्य देखभाल से वंचित रखा गया है। संयुक्त राष्ट्र मानव विकास रिपोर्ट (1993) ज़ोर देकर कहती है कि कोई भी देश महिलाओं के साथ पुरुषों के बराबर व्यवहार नहीं करता (संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम, 1993: 135)। अत्यधिक संख्या में होने के बावजूद कई सामाजिक, आर्थिक बाधाओं के कारण समाज में उनका स्थान गौण है। इससे राजनीतिक प्रक्रिया में लोकतंत्र की संस्थागत संरचना में उनकी सक्रिय भागीदारी बाधित होती है। महिला विकास पर प्रस्तुत दस्तावेज (1985) के अनुसार महिलाओं की अनौपचारिक राजनीतिक गतिविधियों में तेजी से वृद्धि होने के बावजूद राजनीतिक संरचना में उनकी भूमिका में कोई परिवर्तन नहीं आया है (मिश्रा, श्वेता; 1997 : 16)। महिलाओं की राजनीति में व्यापक भागीदारी पारंपरिक तथ्यों जैसे जाति, धर्म, वर्ग, सामंती प्रवृत्तियों और पारिवारिक स्थिति के कारण अत्यधिक सीमित थी। इसके परिणामस्वरूप महिलाएँ राजनीतिक जीवन के हाशिये पर रहीं।

इसी प्रकार अनुसूचित जातियाँ/अनुसूचित जनजातियाँ और अन्य पिछड़े वर्ग के अधिकतर लोग निर्धन हैं जो मौलिक आवश्यकताओं से वंचित हैं और सामाजिक तथा शैक्षणिक रूप में भी पिछड़े हुए हैं। अनेक लोगों के पास पर्याप्त भोजन, स्वास्थ्य देखभाल, आवास या वस्त्र का भी अभाव है। इसके अतिरिक्त जाति की असमानताओं ने उनकी समस्याओं को और बढ़ा दिया और यह शिक्षा की उपलब्धता को प्रभावित करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व बना रहा। यहाँ तक कि राजनीतिक दृष्टिकोण से भी उनको पिछलग्गू बनाया गया क्योंकि विभिन्न राजनीतिक दल वोट बैंक के रूप में अपने स्वार्थों के लिए उनका इस्तेमाल करते रहे हैं।

इस पृष्ठभूमि में यह अनुभव किया गया कि जब तक उन्हें सशक्त नहीं किया गया और चुने गए स्थानीय निकायों में उनका प्रतिनिधित्व सुनिश्चित नहीं किया जाता, समाज में उनकी स्थिति में सुधार नहीं हो सकता। इस प्रकार उनको सुधारने और उनकी भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए सरकार ने विभिन्न उपाय किए हैं जिससे विकेन्द्रित प्रणाली और अधिक लोकतांत्रिक हुई है।

5.2.2 सशक्तिकरण : राष्ट्रीय प्रयास

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ और गणतंत्रीय संविधान अपनाने से संसद और भारत सरकार के द्वारा कई कानूनी उपाय किए गए हैं जिनसे भारत में महिलाओं, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों की स्थिति में सुधार हुआ है। संविधान सामान्य वयस्क मताधिकार (अनुच्छेद 325 और 326) प्रावधान द्वारा राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी का समान अधिकार प्रदान करता है। इसके साथ ही संविधान शिक्षा व रोज़गार में भी समान अधिकार और अवसर प्रदान करता है (अनुच्छेद 14, 15, 16(2) और 17)। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों वाला अध्याय महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए विशेष प्रावधान करता है। ये निर्देश संविधान के अनुच्छेद 39(क), 39(घ), 39(ग) तथा 42 में दिए गए हैं। ये सभी प्रावधान स्पष्ट रूप से संकेत करते हैं कि महिलाओं की अधिकतर माँगों को कानूनी स्वीकृति प्राप्त हुई है। सरकारी सेवाओं और वैधानिक संस्थाओं में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए पद आरक्षित किए गए हैं (अनुच्छेद 330, 332 तथा 335)। अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के छात्रों के लिए निःशुल्क शिक्षा और छात्रवृत्तियाँ प्रदान की गई हैं। इसके अतिरिक्त राज्यों द्वारा संचालित/वित्त पोषित शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश में आरक्षण का प्रावधान किया गया है। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों का मार्गदर्शन भी उनके हितों के अनुसार किया जाता है (अनुच्छेद 38 व 46)।

इस दिशा में कुछ और प्रयास इस प्रकार थे : 1983 में महिला और बाल विकास का एक अलग विभाग स्थापित करना; 1986-87 में महिला विकास निगमों की स्थापना; राज्यों में महिलाओं की विकास आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए 1987 में प्रशिक्षण और रोज़गार कार्यक्रम को सहायता प्रदान करना, महिलाओं के अधिकारों और कानूनी अधिकारों की सुरक्षा के लिए 1990 में राष्ट्रीय महिला आयोग की स्थापना करना; निर्धन महिलाओं की ऋण आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए 1993 में राष्ट्रीय महिला कोष स्थापित करना; 1993 में महिला समृद्धि योजना आरंभ करना तथा 1995 में इंदिरा महिला योजना आरंभ करना आदि। अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों को प्रदत्त सुरक्षा से सम्बन्धित सभी मामलों की जाँच करने और उन पर नजर रखने के लिए राष्ट्रीय अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों आयोग की स्थापना की गई। एक राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग की भी स्थापना की गई है।

5.2.3 सशक्तिकरण : बुनियादी सूत्रपात अथवा प्रयास

इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कदम 73वाँ और 74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 थे। इन अधिनियमों के द्वारा ग्रामीण और शहरी स्थानीय निकायों जैसे पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिकाओं में एक-तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित किए गए। ये अधिनियम प्रत्येक पंचायत/नगरपालिका में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों की आबादी के अनुपात में उनके पद आरक्षित करते हैं। ये अधिनियम प्रत्येक पंचायत/नगरपालिका में प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा भरे जाने वाले कुल स्थानों का न्यूनतम एक-तिहाई (अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों की महिलाओं के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या सहित) स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित करते हैं तथा प्रत्येक पंचायत/नगरपालिका में ये स्थान बारी-बारी से विभिन्न चुनाव क्षेत्रों में आरक्षित किए जाएँगे (अनुच्छेद 243 डी (3) तथा 243 टी(3))। ये अधिनियम यह भी नियम बनाते हैं कि इस प्रकार अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों के न्यूनतम एक-तिहाई स्थान जैसा भी मामला हो, इन वर्गों से सम्बन्धित महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे। इसके अतिरिक्त, अध्यक्षों के पद भी ग्रामीण

और शहरी संस्थाओं में आरक्षित किए गए हैं। जहाँ तक अन्य पिछड़े वर्गों के लोगों के लिए आरक्षण का सम्बन्ध है, यह अभी तक अधिनियम के द्वारा अनिवार्य नहीं बनाया गया है। फिर भी, यह राज्यों के अपने विवेकाधिकार पर छोड़ा गया है।

5.2.4 सशक्तिकरण : संचालन संरचना

सशक्तिकरण तीसरी पीढ़ी की भारतीय पंचायतों के महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों में से एक उद्देश्य है। यह मात्र उच्च स्तर से दिया जाने वाला संवैधानिक प्रावधान नहीं है अपितु निम्न स्तर से किए गए प्रयासों से पुनः सक्रिय करने की प्रक्रिया है। यह समाज के उस पूर्व विद्यमान संरचनात्मक व्यवस्थाओं में परिवर्तन की प्रतीक्षा करता है जो महिलाओं और उपेक्षित समूहों की अधीनस्थता की संरचना को वैध ठहराती हैं।

पिछले दशक में पंचायती राज संस्थाओं (Panchyati Raj Institutions; PRIs) और शहरी स्थानीय निकायों (Urban Local Bodies; ULBs) द्वारा इस दिशा में व्यापक और गहन प्रयोग किए हैं। पिछले 10 वर्षों में पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों की कार्य प्रणाली ने दर्शाया दिया है कि इन संस्थाओं में महिलाओं, अनुसूचित जातियों (Scheduled Castes; SC)/अनुसूचित जनजातियों (Scheduled Tribes; ST) और अन्य पिछड़े वर्गों (Other Backward Classes; OBCs) की साझेदारी लोकतांत्रिक प्रक्रिया में केवल उनकी राजनीतिक भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए नहीं की जाती अपितु उन्हें विकास उद्देश्यों से अवगत कराने के लिए भी की जाती है। इन संस्थाओं में उनकी भागीदारी मतदाता, राजनीतिक दलों के कार्यकर्त्ता, एक उम्मीदवार और पंचायती राज संस्थाओं तथा शहरी स्थानीय निकायों के चुने हुए सदस्यों के रूप में हो सकती है। (भार्गव, बी. एस एवं विद्या के. सी., 1992 : 603)।

73वाँ और 74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम इस विचार से लागू किए गए थे कि निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में अभावग्रस्त समूहों को शामिल करने से उन लोगों को मनोवैज्ञानिक रूप से शक्ति और राजनीतिक क्षमता की भावना प्राप्त होगी जिन्हें स्वयं को प्रभावित करने वाले सार्वजनिक निर्णय को प्रभावित करने के लिए अधिकारविहीन कर दिया गया था। चाहे विलम्ब से ही सही यह स्वागत योग्य कदम था क्योंकि महिलाओं और समाज के अन्य कमज़ोर वर्गों को शामिल किए बिना भारत जैसे पारंपरिक समाज में लोकतंत्र कभी भी सार्थक नहीं हो सकता। लेकिन संवैधानिक प्रावधान केवल आवश्यक और सक्षम बनाने लायक कदम हैं जिसके द्वारा उनके उत्थान के लिए अनुवर्ती प्रभावी उपाय किए जाने चाहिए (मैथ्यू जॉर्ज, 1994 : 130)।

यद्यपि सशक्तिकरण की शर्त के लिए अधिनियमों का अनिवार्य और सक्षम होना पर्याप्त नहीं है तो भी नेतृत्व और निर्णय-निर्माण की स्थिति प्राप्त होने के लिए महिलाओं और अन्य कमज़ोर वर्गों के लिए ये अधिनियम ऐतिहासिक हैं क्योंकि इनसे संपूर्ण भारत के लिए ऐसी भूमिका का निर्वाह करना अनिवार्य और व्यापक बना दिया गया था। महिलाओं और अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों को सशक्त बनाने के लिए आरक्षण की घोषणा एक तरफ उत्साहवर्धक और प्रसन्नता करने वाली थी तो दूसरी तरफ यह विस्मयकारी और चिंताजनक थी। यहाँ तक कि महिलाओं पर अध्ययन करने वाले विद्वानों और विकास कार्यकर्त्ताओं का विचार था कि संपूर्ण भारत में आने वाले चुनावों में तीन स्तरीय पंचायती राज संस्थाओं के लिए 7.95 लाख महिलाओं का सदस्य बनाने के लिए ढूँढ़ना एक कठिन कार्य होगा (कौशिक, सुशीला, 1995 : 3)।

फिर भी, महिलाओं की भागीदारी के संदर्भ में चुनाव के परिणाम कई मामलों में बड़े उत्साहवर्धक थे। न केवल आरक्षित चुनाव क्षेत्र में अपितु सामान्य चुनाव क्षेत्रों में भी महिलाओं ने बड़े आत्मविश्वास के साथ चुनाव लड़ा। कई मामलों में पंचायती राज संस्थाओं के लिए चुनी गई महिलाओं का प्रतिशत

आरक्षित संख्या से भी अधिक था। 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के बाद पंचायती राज संस्थाओं के पहले चुनाव में कर्नाटक में 43 प्रतिशत, मध्य प्रदेश में 38 प्रतिशत और पश्चिम बंगाल में 35 प्रतिशत महिलाएँ निर्वाचित हुई थीं (मिश्रा, श्वेता, 1995 : 116)। संभवतः इन चुनावों में इतना उत्साहवर्धक परिणाम आने से बीजू पटनायक जैसे लोग पंचायती राज व्यवस्था में महिलाओं के लिए पचास प्रतिशत आरक्षण की माँग करने लगे थे।

हरियाणा में पहली बार 17,918 महिलाएँ पंच, 1,978 सरपंच, 806 पंचायत समिति की सदस्य, 37 पंचायत समिति की अध्यक्ष, 103 जिला परिषद की सदस्य तथा 5 महिलाएँ जिला परिषद की अध्यक्ष बनीं (महिपाल, 1995)। कर्नाटक में बुनियादी स्तर पर चुनाव 1994 में हुए जिसमें महिलाओं का प्रतिनिधित्व काफी उत्साहवर्धक था। 5,640 ग्राम पंचायतों में कुल 80,627 स्थानों में से 43.77 प्रतिशत स्थान महिलाओं के पास थे (दत्ता प्रभात, 1995)। दूसरी बार के चुनावों में अर्थात् 2000 में कुल अध्यक्ष और उपाध्यक्ष जिला पंचायतों में 18, तालुक पंचायतों में 115 महिलाएँ थीं और ग्राम पंचायतों में 4,291 महिलाएँ विभिन्न पदों पर निर्वाचित हुई थीं (शुभा, के. तथा भार्गव, बी. एस., 2004 : 110)। सभी स्तरों पर अधिकतम निर्वाचित महिलाओं में कर्नाटक राज्य सबसे ऊपर था। यहाँ ग्राम पंचायतों में 37,689 (46.7 प्रतिशत) तालुक स्तरों पर 1,343 (40.2 प्रतिशत) तथा जिला पंचायतों में 335 (36.45 प्रतिशत) महिलाएँ निर्वाचित हुई थीं। कर्नाटक में शिमोगा जिले के भद्रावती तालुक के मिडोलालू गाँव की एक पंचायत पूरी तरह महिलाओं की थी (तत्रैव, 111)।

जब एन.डी.ए. गठबंधन की नई सरकार का गठन हुआ तो बिहार में फरवरी 2006 में एक अध्यादेश द्वारा 50 प्रतिशत स्थान महिलाओं के लिए और आनुपातिक रूप से अन्य पिछड़े वर्गों के लिए भी आरक्षित किए गए। इस प्रकार बिहार में हाल ही में हुए चुनावों में महिलाओं को 50 प्रतिशत आरक्षण दिया गया। यद्यपि इसे अदालत में चुनौती दी गई है तो भी बुनियादी स्तर पर महिलाओं और अन्य पिछड़े वर्गों के सशक्तिकरण में सराहनीय प्रगति है।

जहाँ तक शहरी स्थानीय निकायों में महिलाओं की भागीदारी का सम्बन्ध है वहाँ भी कमोबेश यही स्थिति है। पंजाब में महिला सशक्तिकरण पर हुए एक अध्ययन (गिल, राजेश 1999 : 45-50) के अनुसार तीन निगमों अर्थात् लुधियाना, अमृतसर और जालंधर में महिलाओं की भागीदारी काफी प्रभावशाली थी। इस तथ्य से प्रकट होता है कि 1997 के चुनावों में इन तीन निगमों में 63 महिलाएँ नगर पार्षद निर्वाचित हुई थीं और इनमें से अधिकतर (56 प्रतिशत) की आयु 40 वर्ष से कम थी। इन महिला पार्षदों की एक अन्य रोचक विशेषता यह थी कि इनमें आधे से अधिक अर्थात् 32 प्रतिशत महिलाएँ मैट्रिक तक ही शिक्षित थीं और 16 प्रतिशत तो पूरी तरह अशिक्षित थीं। लगभग 36 प्रतिशत पार्षद स्नातक या स्नातकोत्तर थीं। इनमें से केवल दो पार्षद व्यावसायिक रूप से योग्य थीं। एक कम्प्यूटर व्यवसाय करती थी जबकि दूसरी फार्म/मुर्गी फार्म व्यवसाय की देखभाल करती थी।

केरल के 2002 में हुए शहरी स्थानीय निकायों के चुनाव सिद्ध करते हैं कि अवसर मिलने पर महिलाएँ शक्तिशाली स्थिति प्राप्त कर सार्थक निर्णय कर सकती हैं और उन्हें लागू भी कर सकती हैं। नगरपालिकाओं में महिलाओं का प्रतिनिधित्व 36.88 प्रतिशत (कुल वार्ड 1597) और निगमों में यह प्रतिनिधित्व 35.07 (कुल वार्ड 298) प्रतिशत था। यदि हम इन आँकड़ों की तुलना 1995 के चुनावों से करें तो महिला प्रतिनिधित्व के प्रतिशत में वृद्धि हुई। इसे तालिका 1 से देखा जा सकता है (कृष्णन्, यू.वी. तथा कृष्णन, शांति, 2002 : 16) से देखा जा सकता है।

तालिका 1 : वर्ष 1995 व 2000 के चुनावों में शहरी स्थानीय निकायों में महिला प्रतिनिधित्व की तुलना

शहरी/स्थानीय संस्था का नाम	कुल वार्ड (1995)	प्रतिनिधित्व का प्रतिशत	कुल वार्ड (2000)	प्रतिनिधित्व का प्रतिशत
1) नगरपालिकाएँ	1568	34.7	1597	36.88
2) नगरनिगम	208	34.7	298	35.07

यह प्रवृत्ति अर्थात् शहरी स्थानीय निकायों में महिलाओं की अपेक्षाकृत अधिक संख्या त्रिवेन्द्रम में भी देखी गई (तालिका 2) (तत्रैव : 17)। यहाँ पर भी शहरी स्थानीय निकायों में महिलाओं की भागीदारी में वृद्धि 33 प्रतिशत आरक्षण के कारण हुई थी।

तालिका 2 : वर्ष 1995 व 2000 में त्रिवेन्द्रम जिले में स्थानीय निकायों में महिला प्रतिनिधित्व की तुलना

शहरी/स्थानीय संस्था का नाम	कुल वार्ड	महिला प्रतिनिधित्व का प्रतिशत (1995)	महिला प्रतिनिधित्व का प्रतिशत (2000)
1) नगरपालिकाएँ	81	34	35
2) नगरनिगम	3	66.66	33.33

जयपुर नगर निगम के अन्य अध्ययन में (शर्मा, अशोक; तत्रैव, 87) पाया गया कि 70 वार्डों के लिए 333 प्रत्याशियों में से 92 प्रत्याशी महिलाएँ थीं। इनमें से 58 सामान्य श्रेणी की, 7 अनुसूचित जाति की, 4 अनुसूचित जनजाति और 23 अन्य पिछड़े वर्ग की थीं। महिला पार्षदों का विचार था कि आरक्षण से समाज के मूल्यों और धारणाओं में अथाह परिवर्तन हुआ है। अधिकतर मामलों में पारिवारिक पृष्ठभूमि ने पार्षद बनाने में उनकी सहायता की क्योंकि उनके परिवार का कोई न कोई सदस्य राजनीति से संबद्ध था। यही परिदृश्य पंजाब में भी देखा गया था।

उत्तर प्रदेश में नवम्बर 1995 में शहरी स्थानीय निकायों के चुनाव हुए जहाँ 53 महिलाएँ इन शहरी स्थानीय निकायों की अध्यक्ष निर्वाचित हुईं और इनमें से दो-तिहाई अध्यक्ष मध्य आयु वर्ग की थीं। जहाँ तक इनकी शैक्षणिक पृष्ठभूमि का सम्बन्ध है इनमें से 30 प्रतिशत सामान्य रूप से शिक्षित थीं, सात स्नातकोत्तर थीं, सात को तकनीकी ज्ञान था और सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि उनमें से दो के पास डाक्टरेट की उपाधि थी (सिंह यू.बी., 1997 : 24)।

रोहतक नगरपालिका चुनाव के अध्ययन (अरोड़ा एस. सी. तथा प्रभाकर, आर. के. 1998: 35-36) से पता चलता है कि 17 महिलाएँ ऐसी थीं जिनके परिवारों में कोई न कोई पहले भी नगरपालिका चुनाव में प्रत्याशी रह चुका था। 27 प्रत्याशी ऐसे परिवारों से सम्बन्धित थीं जिनका किसी न किसी राजनीतिक दल से सम्बन्ध था।

उपरोक्त उदाहरण स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि आरक्षण के द्वारा महिलाएँ वास्तव में सशक्त हुई हैं। इस प्रकार पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों में आरक्षण ने निर्वाचित प्रतिनिधियों में महिलाओं का काफी अच्छा अनुपात रहा है और राजनीतिक प्रक्रिया में उन्हें स्थान प्रदान किया है।

पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों में चुनाव लड़ने और निर्वाचित होने के अलावा महिलाओं ने अन्य क्षेत्रों में भी महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाई हैं। उदाहरण के लिए कोन्नागर (हुगली) की सीमा पर बसे शास्त्री नगर गाँव में गृहणियों ने स्थानीय पंचायत को पाठ पढ़ाने के लिए 1 किलोमीटर सड़क का निर्माण किया। मानसून के मौसम में सभी सड़कों पर पानी भर जाने के कारण बाँध के रूप में काम आने वाली इस सड़क की वे काफी समय से माँग कर रहे थीं। लेकिन स्थानीय पंचायत इस न्यायोचित माँग से उदासीन थी। इसलिए गृहणियों ने यह सड़क स्वयं बनाने का निर्णय किया था (*पंचायती राज अपडेट* जुलाई 1996 : 7)। राजस्थान के अलवर जिले में नीमचामा गाँव की सरपंच कोयली देवी ने अपने ससुर और पति को नोटिस भेज दिया था कि पंचायती भूमि का अतिक्रमण करने के लिए क्यों न उन पर मुकदमा चलाया जाना चाहिए (*पंचायती राज अपडेट* मई 1995 : 4)। गोवा में अपनी पौधों की नर्सरी बनाने और व्यवसाय के लिए अच्छे किस्मों के बीज तैयार करने के लिए महिलाओं को प्रशिक्षित करने का नेतृत्व किया। इस प्रकार उन्होंने कृषि में अपने विद्यमान ज्ञान को उपयोग करने में सक्षम बनाया। इसी प्रकार कर्नाटक में पंचायत की महिलाओं ने महिलाओं को फूलों के उत्पादन में प्रशिक्षण प्रदान करने के द्वारा उन्हें आर्थिक रूप से समृद्ध बनाने का मार्ग प्रशस्त किया।

आंध्र प्रदेश के गंटूर जिले में श्री निवास कुमारी सरपंच ने अपने पूर्ववर्ती सरपंचों द्वारा लिए गए ऋण का भुगतान किया तथा सुनियोजित और चरणबद्ध कार्यक्रम के द्वारा विकास कार्यों में राशि का निवेश किया। उसका केन्द्र बिन्दु शिक्षा, सिंचाई तथा गाँव वालों की अन्य समस्याएँ थीं (मनीक्यंबा, पी, 2004 : 86-87)।

करनूल जिले के काल्वा गाँव की भूतपूर्व सरपंच फातिमाबी सरपंच की भूमिका निभाने में आरंभ में संकोची तथा यहाँ तक कि भयभीत सी भी थी। लेकिन बाद में उसने अपने गाँव की दशा सुधारने का उल्लेखनीय कार्य करने के लिए राज्य सरकार से सर्वोत्तम सरपंच पुरस्कार भी जीता (*पंचायती राज अपडेट* अप्रैल 1997)। मामले की सच्चाई यह है कि आरंभ में वह अपने पति के हाथों में रबड़ की मोहर की तरह थी और वास्तविक सरपंच उसका पति था।

राजस्थान पंचायतों और उनमें महिलाओं की भागीदारी के एक अध्ययन में पाया गया कि निर्वाचित महिलाओं और गाँव की महिलाओं ने भोजन, जल, काम, आवास, हिंसा आदि के लिए चारों और सक्रियता के लिए कार्य किया। (सुजया, सी.पी. तथा जैन, देवकी 2004 : 70)

निर्मला बुच के निष्कर्ष बताते हैं कि महिलाओं की भागीदारी दर काफी अच्छी है। उदाहरण के लिए, तीन राज्यों (मध्य प्रदेश, राजस्थान व उत्तर प्रदेश) में पंचायत की बैठकों में महिलाओं की उपस्थिति पुरुषों की 68.7 से 95.6 की तुलना में 55.5 से 74.4 के बीच है (बुच, निर्मला, 2000)

पुणे नगर निगम के मामलें में कु. चन्द्रकांता सोनकांबली (आई ए डब्ल्यू एस; 2002 ' 8 – 9) काफी अच्छा कार्य कर रही थी। उसे निगम में अपने वार्ड के लोगों को सुविधाएँ प्रदान करने के लिए संघर्ष किया और एक लोकप्रिय नेता के रूप में प्रकट हुई। इसके अतिरिक्त संघर्ष को हल करने के लिए घनी रात में पुलिस चौकी भी पहुँची।

"पंचायती राज के दस वर्ष : समस्याएँ और भविष्य" सेमिनार में बोलते हुए कु. पैट्रिकिया पिंटो, पार्षद, पणजी निगम, गोवा (पिंटो, पैट्रिकिया : 2003) ने गोवा के पणजी शहर में महिला पार्षदों द्वारा किए गए कार्यों की चर्चा की। उसने कहा कि महिलाओं के लिए एक-तिहाई आरक्षण ने अपने-अपने शहरों में शासन का हिस्सा बनने के योग्य बनाने में आधिकारिक स्थान प्राप्त करने में भारतीय महिलाओं की बहुत सहायता की है। कुछ महिलाएँ ऐसी हो सकती हैं जिन्होंने कार्य को दक्षतापूर्वक करने की क्षमता विकसित कर ली हो, उनके पास शैक्षिक पृष्ठभूमि, ज्ञान और इच्छा शक्ति हो। उनके अनुसार 50 प्रतिशत से अधिक निर्वाचित प्रतिनिधि "लोगों के कार्य करने" से अधिक अपनी भूमिका नहीं मानते जो

छोटी-मोटी नागरिक समस्याएँ दूर करने और निगम के लाइसेंस प्राप्त करने में उनकी सहायता करना आदि कार्य हैं।

उत्तर प्रदेश के मामले में (चन्द्रशेखर, बी. के., 2000 : 235) देखा गया है कि सशक्तिकरण प्रक्रिया से निश्चय ही निर्वाचित महिलाओं के ज्ञान, दृष्टिकोण, स्थिति, जीवनशैली और आत्म पहचान के बारे में उल्लेखनीय परिवर्तन आया। सशक्तिकरण और चुनाव में भागीदारी ने उन्हें राजनीति और अधिकार पर चर्चा करने और समझने का अवसर प्रदान किया। निर्वाचित महिलाओं ने निम्नलिखित विषयों जैसे विषयों को प्राथमिकता दी :

i) महिलाओं के लिए रोज़गार उत्पन्न करना;

ii) स्वास्थ्य और पेयजल सुविधाओं में सुधार करना; और

iii) महिलाओं के विरुद्ध अत्याचार की समस्या का समाधान।

कुछ राज्यों में निर्वाचित महिलाओं ने कम मजदूरी और पेयजल की समस्या के विरुद्ध विरोध प्रदर्शनों और रैलियों में भाग लिया। कुछ महिलाएँ सरकारी योजनाओं को अच्छी तरह लागू करने की माँग में शामिल हुईं और जो योजनाएँ लागू करने के लिए बनाई थीं उनके बारे में उन लोगों को जानकारी प्रदान की। केरल के कोझीकोड जिले की पंचायत की महिलाओं ने जिले के पहाड़ी क्षेत्रों में जल समस्याओं का समाधान करने के सघन प्रयास किए। केरल के एर्नाकुलम जिले की पंचायत की महिला प्रतिनिधियों ने बच्चों को विद्यालयों में भेजने का काफी प्रयास किया तथा बच्चों द्वारा बीच में विद्यालय छोड़ने की समस्या का समाधान किया।

अरुणाचल प्रदेश में पंचायत की कुछ नव निर्वाचित महिला नेताओं को जेल भी जाना पड़ा क्योंकि वे महिलाओं के लिए 12 बिस्तर वाले चिकित्सालय के निर्माण के लिए सरकार पर दबाव बना रही थीं। उन्होंने यह भी सुनिश्चित किया कि महिलाओं को प्रत्येक सप्ताह महिला चिकित्सक की सेवाएँ उपलब्ध हों। इसके अतिरिक्त वे अपने सम्बन्धित जिलों और में बाढ़ के दौरान बाँध लगाने जैसी सामुदायिक सेवाओं में भी सक्रिय रूप से शामिल हुईं।

जहाँ तक अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों को सशक्त करने का सम्बन्ध है उनके लिए भी ऐसे सर्वेक्षणों से उनकी प्रभावशाली भागीदारी का परिदृश्य प्रकट होता है। आरंभ में सुरक्षित चुनाव क्षेत्र से केवल वे ही अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्य निर्वाचित होते थे जिन्हें समाज के प्रभुत्व वाले वर्गों ने संरक्षण दिया और जिन्होंने पंचायती राज संस्थाओं/शहरी स्थानीय निकायों की औपचारिक बैठकों में प्रभावी वर्गों के प्रवक्ता के रूप में कार्य किया बाद में उनकी भागीदारी में पर्याप्त सुधार हुआ (मिश्रा, एस. एन. तथा मिश्रा, श्वेता, 2002 : 30)।

कर्नाटक राज्य में अधिकतर मामलों में अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति वर्ग काफी प्रभावशाली थे और वे अपनी स्थिति तथा अधिकारों पर डटे रहने में सक्षम थे। यह विशेषता निर्वाचित प्रतिनिधियों के शिक्षित और अनुभवी होने पर ही होता था। यहाँ तक कि अन्य पिछड़े वर्गों के सदस्यों की भागीदारी भी काफी उत्साहवर्धक थी। 1995 में नारायण का अध्ययन दर्शाता है कि संख्या और आर्थिक रूप से मजबूत वर्गों (लींगायत तथा वोकालिग – अधिक पिछड़े वर्ग) का प्रभाव पंचायती राज संस्थाओं में बहुत कम हो गया था। इस प्रकार 1987 की स्थिति की तुलना में शक्ति का कुछ आधार सर्वाधिक अन्य पिछड़े वर्ग की जातियों के पक्ष में झुक रहा था (नारायण, के.एस. : 1997)। यही स्थिति 2000 के चुनाव में भी देखी गई। वहाँ पंचायती राज संस्थाओं में लगभग 27 प्रतिशत स्थान और लगभग अध्यक्षीय स्थिति सर्वाधिक पिछड़े वर्गों के सदस्यों ने प्राप्त की। अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के सदस्यों ने मिलकर लगभग 30 प्रतिशत स्थानों पर अधिकार प्राप्त किया। इस प्रकार 60 प्रतिशत से अधिक निर्णय-निर्माण की स्थिति पर अभावग्रस्त वर्गों का अधिकार था (नारायण, के. एस. 2005 : 166)।

उड़ीसा के मामले में आरंभ अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के लिए अपनी सामाजिक-आर्थिक अक्षमताओं और अशिक्षा के कारण भागीदारी में बाधाएँ थीं। परन्तु बाद में उनके काम और स्वशासन प्रक्रिया की भागीदारी में भी व्यावाहरिक परिवर्तन हुआ। अन्य पिछड़े वर्गों की भागीदारी आरंभ में नाममात्र की थी लेकिन बाद में प्रशासन के पंचायती राज प्रणाली के प्रत्येक स्तर पर उनके 27 प्रतिशत आरक्षण प्रावधान से उनमें एक प्रकार का आत्मविश्वास दिखाई दिया जिससे उनके नैतिक चरित्र में तथा स्वशासन प्रक्रिया में एक सीमा तक सशक्त होने से मजबूती आई (चन्द्रशेखर, बी. के., 2000 : 175)।

बिहार में 2001 के पंचायत चुनाव ने निम्न अन्य पिछड़े वर्गों को सशक्त बनाया। वे न केवल जिला परिषदों के अध्यक्ष के रूप में सामने आए अपितु काफी संख्या में या तो मुखिया (3.9 प्रतिशत) या जिला परिषद के सदस्यों (3.5 प्रतिशत) के रूप में निर्वाचित हुए। कम से कम शक्ति संरचना में उनकी उपस्थिति उल्लेखनीय हो गई और प्रान्तीय स्तर पर नए सामाजिक और राजनीतिक समीकरण बने (गुप्ता, शैबल, 2001 : 2742)।

2001 के चुनावों में अनुसूचित जातियों में उच्च जागरूकता देखी गई। कुल मुखिया के लगभग 1.6 प्रतिशत मुखिया अनुसूचित जाति के थे और ये सभी सीधे चुनावों में निर्वाचित हुए थे। अधिकतर अनुसूचित जाति के मुखिया ऐसे जिलों जैसे गया, औरंगाबाद, कैमरार, जहाँनाबाद, पटना व रोहतास से निर्वाचित हुए थे जहाँ घोर अत्याचार हुआ था। उत्तरी बिहार के कुछ जिले (दरभंगा, बंगूसराय, मुंगेर और सुपौल) जहाँ अनुसूचित जाति के लोगों ने अपेक्षाकृत अच्छा काम किया था वे साम्यवादियों द्वारा चलाए गए सांझे काश्तकार आंदोलन के शक्तिशाली केन्द्र थे (तत्रैव)। यह एक उत्साहवर्धक रूझान है जो 2001 के चुनाव में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के बिना किसी आरक्षण के देखने को मिला।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि 1993 में सशक्तिकरण के बाद से महिलाओं, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों ने काफी प्रगति कर ली है। इस 13 वर्ष की यात्रा में अथवा अवधि में उनके सामने अनेक बाधाएँ और समस्याएँ आईं जिन्हें उन्होंने अपनी भागीदारी, नेतृत्व करके और निर्णय-निर्माण में शामिल हो कर दूर करने का प्रयास किया। पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों में आरक्षण ने उनको अपने गाँवों और शहरों में शासन का एक भाग बनने में सहायता प्रदान की और अब वे अपने चुनाव क्षेत्र के साथ-साथ स्वयं अपने भविष्य का निर्णय करने की स्थिति में हैं। लेकिन यह भी याद रखना चाहिए कि कोई भी परिवर्तन एक ही दिन में और केवल कानून बनाने से नहीं लाया जा सकता (मिश्रा, श्वेता, 1997 : 21)। उन्होंने पिछले 13 वर्षों में जो उपलब्धि प्राप्त की है वह पर्याप्त नहीं है। सशक्तिकरण का वास्तविक फल प्राप्त करने के लिए अभी उन्हें काफ़ी मार्ग तय करना होगा। हाल ही में पारित सूचना का अधिकार सशक्तिकरण की दिशा में उनकी और अधिक सहायता करेगा।

5.3 सशक्तिकरण : समस्याएँ और बाधाएँ

केवल वैधानिक कानून लागू होने से प्रभावी और स्थाई सशक्तिकरण प्रक्रिया सुनिश्चित नहीं की जा सकती। इसका कार्यान्वयन अधिक महत्त्वपूर्ण है। पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों की नई व्यवस्था की कार्य प्रणाली से पता चलता है कि महिलाओं, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के सशक्तिकरण के मार्ग में कई जटिल समस्याएँ और बाधाएँ थीं।

एक बाधा यह देखी गई कि सामने आने और चुनावों में खड़े होने में अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लोग एवं महिलाएँ संकोच करते थे। आखिरकार इन वर्गों का सदियों से शोषण हो रहा था इसलिए अशिक्षा, गरीबी और परम्पराओं की बेड़ियाँ एक दिन में नहीं तोड़ी

जा सकती थीं। इसके परिणामस्वरूप आरंभिक अवस्थाओं में अपने राजनीतिक लाभ के लिए राजनीतिक शक्तियों ने उन्हें चुनावों में लड़ाया (मिश्रा, श्वेता, 2002 : 40)। निर्वाचित होने के बाद वे पुरुषों के मार्गदर्शन में और उनकी अधीनता में हस्ताक्षर करने या भरे हुए कागज पर मोहर लगाने की तरहं उनके प्रतिनिधि के रूप में कार्य करती थीं। चुनावों में वोटों के लिए प्रतिनिधि संघर्ष इसका प्रमाण था क्योंकि महिला उम्मीदवारों का उल्लेखनीय आरक्षण होने के कारण अपनी राजनीतिक अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए कई लोगों ने अपनी पत्नियों, बहुओं, पुत्रियों, भतीजियों आदि को चुनावों में खड़ा किया (हिन्दुस्तान टाइम्स, 1995 : 3)।

इनके अतिरिक्त स्थानीय शक्ति मध्यस्थताओं द्वारा महिलाओं के लिए आरक्षण किया गया जो अधिकांश भाग में आरंभ में अप्रभावी रहा। हरियाणा के कुछ गाँवों में महिला प्रतिनिधि पुरुष पंचायती नेताओं के परिवार से सम्बन्धित होती थीं। कुछ स्थानों में यह भी देखा गया है कि महिला नेता इतनी वृद्ध थी कि चल भी नहीं पाती थी। अधिकतर मामलों में आरक्षण से ग्रामीण/शहरी विशिष्ट वर्ग की पकड़ ही मजबूत हुई थी। महिला कल्याण के लिए निर्धारित कोष सही उद्देश्य के लिए इस्तेमाल नहीं किए जाते थे। कार्य प्रणाली की प्रक्रियाओं और अपने अधिकारों के बारे में महिलाओं की अनभिज्ञता के कारण तथा महिला पंचायत/नगरपालिका सदस्यों को पहचानने और नामित करने के लिए अनुपयुक्त तरीकों के कारण स्थानीय निकायों में महिलाओं को पुरुषों के बराबर स्वीकृति प्रदान नहीं की जाती थी (झामतानी; 1995 : 63)।

चुनावी निष्कर्षों से भी महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के कुछ उदाहरण मिलते हैं। हरियाणा के पानीपत के निकट कचरांली गाँव में जमीन के एक सौदे की जाँच के बारे में एक पदधारी दलित महिला सदस्य जिंदान बाई को पुलिस द्वारा पीटा गया और अभद्र व्यवहार किया गया। मध्य प्रदेश के भिंड जिले के हरपुरा गाँव में एक महिला के दोनों हाथ तोड़ दिए गए थे (कौशिक; 1995 : 85)। पश्चिम बंगाल में गैघाटा थाना क्षेत्र में चन्द्रपाड़ा ग्राम पंचायत की फारवर्ड ब्लॉक सदस्य तापती सरकार पर लोहे के सरियों से आक्रमण किया गया (हिन्दुस्तान टाइम्स; 1994)।

पारंपरिक रूप से उपेक्षित समूहों से सम्बन्धित महिलाएँ उच्च जाति के अत्याचारों के कारण ग्राही स्तर पर रहती थीं। ऐसे जाति और महिला आधारित अत्याचारों के उदाहरण देश के कई राज्यों से उद्धृत किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए मध्य प्रदेश में 2001-2002 में चार जिलों (रायगढ़, छतरपुर, रायसेन और पूर्वी निमार) में हुए पंचायत के चुनावों में अधिकारों के दुरुपयोग स्पष्ट दिखाई दिए। कुछ रिर्पोटें जैसे एक महिला सरपंच को नग्न करके घूमाया गया, एक दलित पंचायत सदस्य को पीटा गया, एक महिला सरपंच के साथ सामूहिक बलात्कार किया गया, एक उप-सरपंच पर अत्याचार किया गया और एक दलित पंचायत सदस्य की पिटाई की गई, सामने आई हैं (मैथ्यू, जॉर्जः 2003 : 155, 162)।

इन मामलों के अतिरिक्त, उनके विरुद्ध कुछ यौन शोषण के मामले भी हुए हैं। राजस्थान के बासी ब्लॉक, जिला जयपुर की भांवरी "साथिन" के साथ सामूहिक बलात्कार किया गया क्योंकि वह बाल विवाह की कुप्रथा के विरुद्ध संघर्ष कर रही थी (पंचायती राज अपडेट, जून 1995: 2)। सल्हेना गाँव की महिला पंचायत सदस्य, द्रौपदी बाई को रायगढ़ जिले के श्रेया खण्ड विकास अधिकारी के सामने नग्न किए जाने की सूचना है (मैथ्यू तथा नायक 1996 : 1765)। एक अन्य घटना में खंडवा जिले में गूजरखेड़ी की महिला सरपंच के साथ सामूहिक बलात्कार किया गया (पंचायती राज अपडेट, नवम्बर 1995 : 4)। उड़ीसा में सुंदरगढ़ जिले की कुत्रा पंचायत की उप-सरपंच, बसमती बारा ने पंचायत मंत्री द्वारा यौन शोषण की शिकायत की (कौशिक, 1995 : 86)।

सशक्तिकरण के मार्ग में एक अन्य समस्या यह थी कि महिलाओं को अनारक्षित चुनाव क्षेत्रों में नहीं आने दिया जाता था। इसका खुलासा आंध्र प्रदेश की एक निर्वाचित महिला ने किया। उसने बताया, "महिलाओं के लिए कोटा प्रणाली पुरुषों के लिए आरक्षण नीति बन गई है। (पलानिथुरे में उद्धृत जी,

2004 : 52)। उसने आगे कहा कि "एक-तिहाई आरक्षण से बचे अन्य सभी स्थान आरक्षित है" अर्थात् वे पुरुषों के लिए हैं और पुरुषों ने ग्रहण कर रखें हैं।

इसी प्रकार महिलाओं ने आरक्षण के लिए रोस्टर पद्धति के बारे में शिकायत की है। टुमकुर (कर्नाटक) जिला पंचायत की उपाध्यक्ष जिसका पाँच वर्ष का कार्यकाल पूरा हो चुका था, ने कहा कि "पाँच वर्ष पूर्व में गृहिणी थी, आज मैं बैठक की अध्यक्षता करने और प्रशासन एवं जनता को संभालने में सक्षम हूँ। कल से फिर मुझे जीवनभर के लिए (रसोईघर में) गृहिणी बनना होगा" क्योंकि आरक्षण के लिए बनाई गई प्रणाली अर्थात् रोस्टर प्रणाली ऐसी है कि उसे एक ही चुनाव क्षेत्र के लिए पुनः नामित नहीं किया जा सकता (तत्रैव)।

एक अन्य समस्या चुनावों के दौरान व्यापक जाति संघर्ष की देखी गई। उदाहरण के लिए चुनावों में तमिलनाडू के अनेक जिलों में ये संघर्ष देखे गए। कुछ मामलों में दलित प्रतिनिधियों पर शारीरिक अत्याचार की घटनाएँ हुईं। इससे पंचायती राज संस्थाओं तथा शहरी स्थानीय निकायों में कमज़ोर वर्गों के प्रतिनिधित्व में बाधा उत्पन्न हुई। शक्तिशाली ग्रामीण समूह स्थानीय शक्ति व्यवस्था को पददलित की ओर जाने से समझौता नहीं कर सके और वे नई व्यवस्था को अपने पारंपरिक आधिपत्य व प्रभाव के लिए एक खतरा समझने लगे (चन्द्रशेखर, बी.के. 2000 : 216)। बिहार के मामले में देखा गया कि यद्यपि अन्य पिछड़ी जातियों ने अपना राजनीतिक समर्थन आधार तो बढ़ा लिया था तो भी उच्च जातियाँ या पारंपरिक विशिष्ट वर्ग अभी भी आधारभूत स्तरों पर सामाजिक और राजनीतिक शक्ति के महत्त्वपूर्ण हिस्सा थे (गुप्ता शैबल, 2001 : 2742)। इसके अतिरिक्त अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के प्रतिनिधि सामान्य श्रेणी के प्रतिनिधियों के साथ घूलने-मिलने में कठिनाई अनुभव करते थे।

सशक्तिकरण के मार्ग में एक रुकावट पुरुष साथियों का आधिपत्य वाला दृष्टिकोण था। पुणे नगरपरिषद की पार्षक कु. सोनकांबले के अनुसार उन्हें अपने कर्त्तव्य पालन में अपने पुरुष साथियों के दृष्टिकोण के कारण रुकावट आती थी जो यह आशा करते थे कि महिलाओं को सभी मामलों में उनकी बात माननी चाहिए। पुरुष और महिलाओं के कार्य निष्पादन की हमेशा तुलना होती थी और पुरुषों में भय विद्यमान रहता है कि कहीं महिलाएँ उनसे अधिक शक्तिशाली न बन जाएँ या पुरुषों से आगे न निकल जाएँ (आई ए डब्ल्यू एस, 2002 : 8-9)।

अभी एक और बाधा है प्रतिनिधियों का अप्रशिक्षित होना। इसके परिणामस्वरूप निर्वाचित होने के बाद व्यावहारिक रूप से आधी अवधि तो कार्य और उससे सम्बन्धित कार्यों को समझने का प्रयास करने में समाप्त हो जाती है। इसलिए वे जनता का निर्वाचित प्रतिनिधि होने के रूप में सही कार्य निष्पादन करने और अपनी स्थिति को उचित रूप से व्यक्त नहीं कर पाते।

चूँकि चुनाव राजनीतिक दलीय आधार पर लड़े जाते हैं और कई प्रत्याशी पंचायत/नगरपालिका चुनाव लड़ने के लिए राजनीतिक दलों की सहायता लेते हैं। अतः निर्वाचित होने के बाद उन्हें दल की नीतियों का पालन करना होता है। महिला प्रतिनिधियों की शिकायत है कि पंचायत/नगरपालिका में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दलों से सम्बन्धित प्रतिनिधियों की स्थिति अल्प संख्या वाले दलों के प्रतिनिधियों से अच्छी होती है। राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप से पंचायती राज संस्थाओं/शहरी स्थानीय निकायों की कार्य प्रणाली का राजनीतिकरण हो जाता है और निगम की दैनिक कार्य प्रणाली में प्रतिनिधियों के पास कहने-करने को बहुत कम बचता है (गिल, राजेश, 1995 : 54)।

देश के कई भागों में किए गए अध्ययनों से पारम्परिक जाति आधारित दृष्टिकोण, आधारभूत कार्यकर्त्ताओं की लिंग असंवेदनशीलता, अशिक्षा, बुनियादी स्तरों पर उपेक्षित महिलाओं में प्रशिक्षण का अभाव और विद्यमान पैतृक और मातृ विचारधारा और लिंग पृथक्करण प्रकट होता है। इन तथ्यों ने

समाज के वंचित वर्गों की महिलाओं को उपेक्षित बनाने की प्रक्रिया में योगदान दिया (सिंहराय, देबा के., 2003 : 206)।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि केवल व्यवस्था की संरचना और प्रतिनिधित्व में परिवर्तन करने से सशक्तिकरण प्रक्रिया में वांछित परिवर्तन नहीं होगा। इसके लिए लोगों का अनुकूलन और उनके प्रतिनिधियों का उपयुक्त प्रशिक्षण और जागृत कार्यक्रमों से जुड़ना आवश्यक है।

5.4 सशक्तिकरण : लम्बा मार्ग तय करना (काफी कार्य करना)

उपरोक्त समस्याओं और बाधाओं पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों में महिलाओं, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों, और अन्य पिछड़े वर्गों की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रभावशाली सशक्तिकरण के लिए कुछ प्रभावी कदम उठाने होंगे। इन उपायों/कदमों की चर्चा नीचे की जा रही है :

प्रभावशाली भागीदारी सुनिश्चित करने और सशक्तिकरण को सार्थक बनाने के लिए कमज़ोर वर्गों को पंचायत और नगरपालिका सदस्य के रूप में उनके दायित्वों से अवगत कराना आवश्यक है। अनेक महिला संगठन और यहाँ तक कि सरकारी अभिकरण भी महिलाओं, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों को सक्रिय करने और उनकी जागरूकता बढ़ाने में शामिल रहे हैं और चुनावों की घोषणा होने पर प्रत्याशी के रूप में खड़े होने के लिए आगे आने के लिए प्रोत्साहित भी करते हैं। बिहार में स्वयं राज्य सरकार ने जिला, ब्लॉक और पंचायत स्तरों पर पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं की भूमिका पर उनमें जागरूकता बढ़ाने के लिए अनेक कार्यशालाएँ आयोजित कीं। देश में महिला मतदाताओं की जागरूकता में वृद्धि के लिए भारतीय महिला अध्ययन संघ ने एक राष्ट्र व्यापी अभियान भी चलाया है। इन जागरूकता अभियानों के परिणामस्वरूप महिलाओं, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों ने सामने आना और उन्होंने पंचायती राज संस्थाओं तथा शहरी स्थानीय निकायों के मामलों में भाग लेना आरंभ किया।

दूसरे, पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों में शिक्षा सशक्तिकरण का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। इसलिए राजनीति, विधानपालिका और व्यापक राजनीतिक और पंचायत/नगरपालिका प्रणाली की दैनिक कार्य प्रक्रियाओं की शिक्षा भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न विकासात्मक नीतियों और कार्यक्रमों विशेषतः उनसे सम्बन्धित नीतियों और कार्यक्रमों के बारे में महिलाओं, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों को अवगत करना आवश्यक है। भूतपूर्व महिला और बाल विकास राज्य मंत्री बासवा राजेश्वरी का मत था कि सशक्त महिला अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों को अपने सम्बन्धित क्षेत्रों की समस्याओं को हल करने के लिए किए जाने वाले कार्य का पता न होना बहुत खेद की बात है। लोगों की सहायता करने की जिज्ञासा होना काफी नहीं है। सक्षम लोगों को यह भी ज्ञात होना चाहिए कि उन्हें किस प्रकार की सहायता कब चाहिए। इसलिए उनका शिक्षित होना आवश्यक है (चक्रबर्ती, 1995)।

तीसरा है, सशक्तिकरण को प्रभावी और वास्तव में सार्थक बनाने के लिए उपयुक्त प्रशिक्षण आवश्यक हो जाता है। आरंभ में राष्ट्रीय स्तर पर पंचायत के प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान (National Institute of Rural Development; NIRD), हैदराबाद, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान (Indian Institute of Public Administration; IIPA), नई दिल्ली तथा लाल बहादुर शास्त्री प्रशासन अकादमी (Lal Bahadur Shastri Academy of Administration; LBSAA), मसूरी में दिया जाता था। तीन प्रमुख संस्थानों ने प्रशिक्षण की आवश्यकताओं का मूल्यांकन करने और उसकी उपयोगिता व मूल्यांकन करने के बाद पंचायती राज संस्थाओं के प्रतिनिधियों के प्रशिक्षण हेतु एक प्रशिक्षण माड्यूल तैयार किया था। जो भी सामग्री तैयार की गई थी वह राज्य स्तरों पर ग्रामीण विकास

राज्य संस्थानों (State Institutes of Rural Development; SIRD) तथा प्रशासनिक प्रशिक्षण संस्थानों (Administrative Training Institutes; ATIs) को भेजी गई।

कुछ राज्यों में भी प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण प्रदान करने की प्रक्रिया आरंभ हो गई है। कर्नाटक में राज्य सरकार और स्वयंसेवी संगठनों द्वारा प्रशिक्षण और अनुकूलन कार्यक्रमों के द्वारा महिलाओं, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों की पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों में भागीदारी को मजबूत करने के लिए कई प्रयास आरंभ किए गए थे। सर्वाधिक सक्रिय, उत्साहवर्धक और दक्ष कार्यक्रम टुमकुर जिले में आयोजित किया गया था जहाँ जिला अधिकारियों, राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के स्वयंसेवियों और बंगलौर ग़ैर-सरकारी संगठन सर्च (SEARCH) ने 1693 महिलाओं और 1708 पुरुषों के लिए एक प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किया (जनता, 1995 : 13)।

हरियाणा में, हरियाणा सामाजिक कार्य अनुसंधान केन्द्र (एक ग़ैर-सरकारी संगठन) ने पंचायती राज संस्थाओं की महिलाओं के प्रशिक्षण का कार्य आरंभ किया। उनके प्रशिक्षण के तीन मानदण्ड रखे गए। पहले प्रत्येक मोहल्ले में उस क्षेत्र का एक प्रतिनिधि होना चाहिए, दूसरे, सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। तीसरे, सभी सामाजिक समूहों (जाति, समुदाय) को अपना प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करने की अनुमति दी जानी चाहिए (विकास अध्ययन और कार्य केन्द्र, 1994 : 11)।

वाणिज्य मंडल द्वारा प्रायोजित पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, ग्रामीण विकास फाउण्डेशन (Punjab, Haryana, Delhi Rural Development Foundation; PHDRDF) ने हरियाणा में गुडगाँव और फरीदाबाद जिलों में 96 लाख की लागत से 2,500 निर्वाचित महिला पंचों को प्रशिक्षित करने की परियोजना आरंभ की। इसका उद्देश्य महिलाओं से सम्बन्धित विषयों के बारे में उनमें जागरूकता उत्पन्न कर महिला पंचों को प्रशिक्षित और सक्रिय करना था ताकि वे पंचायती राज संस्थाओं के कार्यों में समुचित रूप से शामिल हो सके (पंचायती राज अपडेट, जून 1996 : 7)।

इन प्रशिक्षणों से लोगों के प्रतिनिधियों में अपने कर्त्तव्यों के प्रति अधिक जागरूकता आई और उनकी दक्षता और क्षमता में सुधार हुआ। उन्हें संप्रेषण क्षमता और व्यावसायिकता का ज्ञान प्रदान करने के लिए अनुभव किया गया कि उनके लिए सरकार द्वारा अधिक विशिष्ट प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए जाने चाहिए। यह प्रशिक्षण चुनाव के तुरंत बाद दिया जाना चाहिए।

चौथा, पंचायती राज संस्थाओं और शहरी पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव लड़ने वाले पुरुष और महिला दोनों प्रत्याशियों के लिए कुछ न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता होना अनिवार्य किया जाना चाहिए। यदि वे शिक्षित हैं तो बहुत अच्छा है क्योंकि नीति निर्माण के लिए वे ही उत्तरदायी हैं।

इन सुझावों के अतिरिक्त विद्वानों ने अपने अध्ययनों के कुछ अन्य सुझाव भी प्रदान किए हैं। उदाहरण के लिए, सुधा पाई ने अपने उत्तर प्रदेश के अध्ययन में सुझाव दिया है कि आरक्षण के साथ महिला शिक्षा, स्वतंत्र मताधिकार और समाज तथा परिवार में स्थिति में सुधार करने का भी सुझाव दिया है (एस. एस. मलिक द्वारा चहर में उद्धृत, एस.एस., 2005 : 187)। इसी प्रकार कर्नाटक के अपने अध्ययन में बिद्युत मोहंती ने पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों में प्रभावशाली ढंग से भाग लेने के लिए प्रतिनिधियों को सक्षम बनाने हेतु उपयुक्त सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने का सुझाव दिया है (तत्रैव)।

परिवारों में पुरुष सदस्यों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होना आवश्यक है क्योंकि इससे महिलाओं को राजनीतिक कार्यकलापों में भाग लेने का अवसर मिल सकता है। उच्च जाति के प्रतिनिधियों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होना आवश्यक है ताकि अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों के प्रतिनिधि सामान्य श्रेणियों के प्रतिनिधियों के साथ विश्वास के साथ मिल-जुल सकें (मलिक, एस. एस., 2005 : 189)।

5.5 सारांश

उपेक्षित, विशेषतः महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए संवेदनशील, समानुभूति और सरकारी तथा गैर-सरकारी समतावादी प्रयासों की आवश्यकता है। निःसंदेह 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियमयों से अपनी स्थानीय आवश्यकताओं के सम्बन्ध में उपेक्षित लोग योजना निर्माण और कार्यान्वयन प्रक्रिया का एक हिस्सा बनने लगे। इससे न केवल बुनियादी स्तर पर सशक्तिकरण हुआ अपितु कुल मिलाकर महिला, अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़े वर्ग भी सशक्त हुए। महिलाओं और कमज़ोर वर्गों के सशक्तिकरण से भारतीय राज्य व्यवस्था में अच्छी शासन व्यवस्था और अपेक्षाकृत अधिक पारदर्शिता आएगी। इससे अगली पीढ़ी के माध्यम से अधिक स्वतंत्रता, कम अत्याचार और असमानता में कमी से समाज के मूल्यों में परिवर्तन भी सुनिश्चित होगा। यह तभी संभव होता जब सभी अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के पदधारी जागरूकता, सक्षमता और व्यवहार कुशलता की कला जानते हों तथा शिक्षित, ज्ञानवान, सक्षम प्रतिनिधि, मजबूत राजनीतिक इच्छा और प्रेरणा से स्वेच्छा से आगे आएँ (मिश्रा, श्वेता, 2002 : 31)। इसके अतिरिक्त महिला प्रतिनिधियों को वित्तीय रूप से समर्थ और स्वतंत्र बनाया जाना चाहिए तथा पारिवारिक संपत्ति में उनका हिस्सा हो। उन्हें आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनाने के लिए महिला सहकारी संस्थाएँ भी बनाईं जानी चाहिए।

फिर यदि हम महिलाओं और कमज़ोर वर्गों को वास्तव में ग्रामीण और शहरी शासन में प्रभावशाली ढंग से भागीदार बनाना चाहते हैं तो यह सुनिश्चित करना होगा कि उन्हें निर्णय निर्माता के रूप में मान्यता प्राप्त हो और महिला संगठनों तथा गैर-सरकारी संगठनों को उनमें अपेक्षित राजनीतिक प्रेरणा और रूचि जागृत कर सक्रिय बनाने के लिए पहल करनी होगी। अंत में पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों के नियमित चुनाव महिलाओं और कमज़ोर वर्गों को ज्ञानवान और सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से सजग बनाने में मील का पत्थर साबित होंगे तथा सशक्तिकरण को सार्थक और फलदायक बनाएँगे।

73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 में पारित होने के बाद सशक्तिकरण की प्रक्रिया आरंभ हुई। इन्हें लागू करने का अनुभव यह था कि आरंभ में महिलाओं और कमज़ोर वर्गों को अनेक समस्याओं और बाधाओं का सामना करना पड़ा। लेकिन सरकारी, गैर-सरकारी संगठनों, स्वयंसेवी संगठनों और महिला संगठनों के प्रयासों और नियमित चुनावों की स्थिति से परिवर्तन होना आरंभ हुआ। इसके परिणामस्वरूप महिलाएँ, अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़े वर्ग शासन के अभीष्ट मानकों को पूरा करने के लिए पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों द्वारा प्रस्तुत चुनौतियों का सामना करने लगे। महत्त्वपूर्ण विषय जिन पर ध्यान देना आवश्यक है वे हैं : महिला, शिक्षा, परिवार में पुरुषों और उच्च जातियों के प्रतिनिधियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन, वित्तीय और क्रियात्मक स्वायत्तता और सर्वोपरि नियमित चुनाव। और जब इन विषयों पर ध्यान दिया जाएगा तभी सशक्तिकरण प्रक्रिया प्रभावी, सार्थक और फलदायक होगी।

5.6 मुख्य अवधारणाएँ

नगरपालिका बाँड (Municipal Bonds) : संयुक्त राज्य अमेरिका में उप-राष्ट्रीय सरकारों के ऋण पत्र। नगरपालिका बाँड संघीय करों (राज्य और स्थानीय छूटें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं) से छूट होने के कारण ये बाँड वाणिज्य बाजार में ब्याज दर से कम दर पर ऋण लेने की अनुमति प्रदान करते हैं। क्रेता इन बॉण्डों को आकर्षक निवेश मानते हैं क्योंकि इनकी अत्यधिक नाममात्र कर दर पर

		करमुक्त निवेश को उच्च ब्याज दर वाली लेकिन कर देयता वाले निवेश की तुलना में अधिक लाभदायक बनाती है।
प्रतिनिधि सरकार (Representative Government)	:	ऐसी सरकारी व्यवस्था जिसमें लोगों द्वारा मुक्त रूप से चुनी गई विधान पालिका उनकी तरफ से महत्त्वपूर्ण अधिकारों का प्रयोग करती है।
कल्याणकारी राज्य (Welfare State)	:	एक ऐसी शासन प्रणाली जिसमें यह जन नीति होती है कि सरकार आगे नागरिकों को एकसमान न्यूनतम आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक लाभ प्रदान करने का प्रयास करेगी।

5.7 संदर्भ व अन्य लेख

अरोड़ा, सुभाष सी. एवं प्रभाकर, आर. के., 1998, "अवेयरनैंस ऑफ वोमेन कंटेस्टेंट्स ए स्टडी ऑफ रोहतक म्यूनिसिपिल काउंसिल इलेक्सन्स" *नगर लोक*, खण्ड XXX संख्या 1, जनवरी – मार्च।

भार्गव, बी. एस. एण्ड विधा, के.सी., 1992, "पोजिशन ऑफ वुमेन इन पॉलिटिक्ल इंस्टीट्यूशन्स", *जर्नल ऑफ रूरल डेवलपमेंट*, खण्ड II, संख्या 5, सितम्बर।

बुच, निर्मला, 2000, वुमैन्स एक्सपिरियन्स इन न्यू पंचायतः द इमरजिंग लीडरशिप ऑफ रूरल वुमैन, ओकेशनल पेपर संख्या 35।

चक्राबर्ती, मधुमिता, 1995, "स्कीम टू एजुकेट वुमेन पंचायत कंटसटेन्टस" पॉयनियर, अप्रैल 25।

चन्द्रशेखर, बी. के., (संपा.), 2000, पंचायती राज इन इंडिया – स्टेट्स रिपोर्ट 1999, टॉस्क फोर्स ऑन पंचायती राज, राजीव गांधी फाउण्डेशन, नई दिल्ली, मार्च।

चौहान, एस.एस.एस. और बंसल, गौरव, 2002, "वेरियस डाइमेंशन्स ऑफ वुमेन्स एमपावरमेंट" *सोशल वेलफेयर*, खण्ड 49, संख्या 5, अगस्त।

दत्ता प्रभाव, 1995, "विलेज सेल्फ गवर्नमेंट इन पोस्ट कोलोनियल इंडिया", कुरुक्षेत्र, खण्ड XLIII, संख्या 7, अप्रैल।

गिल, राजेश, 1999, "सैवंटी फोर्थ कंस्टीट्यूशन अमेन्डमेंट एण्ड पॉलिटिकल एम्पावरमेंट ऑफ वुमेन इन पंजाब : ए स्टडी इन अर्बन गवर्नेंस" *अर्बन इंडिया*, खण्ड XIX, संख्या 1, जनवरी – जून।

गुप्ता, शैबाल, 2001, "न्यू पंचायत एण्ड सबलट्रन रिसर्जेन्स", *इकॉनामिक एंड पालिटिकल वीकली*, जुलाई 21।

इंडियन एसोसिएशन ऑफ वुमेन्स स्टडीज (IAWS), 2002, न्यूजलेटर, जनवरी।

झमतानी, अमिता, 1995 ""रूरल वुमैन्स : दी पॉवरलेस पार्टनर्स इन डेवलपमेंट" *कुरुक्षेत्र*, खण्ड XLIII, संख्या 11, अगस्त।

कौशिक, सुशीला, 1995, *पंचायती राज इन एक्शन : चैलेन्जिज टु वुमैन्स रोल*, फ्रिडरिक एर्बट स्टीफंग, नई दिल्ली।

कोठारी रजनी, 1999 "ईशूज इन डिसेंट्रलाइज्ड गवर्नेन्स", एस. एन. झा, एवं पी.सी. माथुर (संपा.) *डिसेंट्रलाइजेशन एंड लोकल पॉलिटिक्स*, सेज, नई दिल्ली।

कृष्णन, यू.वी. एवं कृष्णन, संथी, 2002, "स्टेट्स ऑफ केरल वुमैन इन पॉलिटिक्स", *इंडियन एसोसिएशन ऑफ वुमैन्स स्टडीज,* न्यूजलेटर, जनवरी।

लक्ष्मीनारायण, पी., 1999 "एम्पावरमेंट ऑफ वुमैन थ्रू पंचायती राज इंस्टीट्यूशन्स" अनिल दत्ता मिश्रा (संपा.) *जेन्डर पर्सपेक्टिव पार्टिसिपेशन, एम्पावरमेंट एंड डेवलपमेंट,* राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

महिपाल, 1995, *"टेकिंग पॉवर इन देयर स्ट्राइड" पायनियर,* नवम्बर 1।

मानिक्याम्बा, पी., 2004, "वुमैन इन लोकल गवर्नेंस एक्सपीरियंस इन आंध्र प्रदेश", जी पालनिठुराई (संपा), डाईनामिक्स ऑफ न्यू पंचायती राज सिस्टम इन इंडिया, खण्ड IV, कंसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली।

मलिक एस. एस., 2005, "वुमेन एम्पावरमेंट एंड पंचायती राज" एस एस चहर (संपा.) *गवर्नेंस एट ग्रासरूट्स लेवल इन इण्डिया,* कनिष्का पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

मैथ्यू, जॉर्ज, 1994, *पंचायती राज : फ्रॉम लेजिसलेशन टू मूवमेंट,* कंसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली।

मैथ्यू, जॉर्ज एवं नायक, रमेश, सी., 1996, "पंचायतस एट वर्क : वाट इट मीन्स फॉर द ऑपरेस्ड" *इकॉनामिक एंड पालिटिकल वीकली,* खण्ड XXXI, संख्या 27, जुलाई 6।

मीनाक्षीसुंदरम्,, एस. एस., 1994, *डिसेंट्रलाइजेशन इन डेवलपिंग कंट्रीज,* कंस्पेट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली।

मिश्रा, एस. एन. एवं मिश्रा, श्वेता, 2002, *डिसेन्ट्रलाइज्ड गवर्नेंस,* शिप्रा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

मिश्रा, श्वेता, 2002, "एम्पावरमेंट ऑफ वुमैन इन अर्बन लोकल बोडिज : एन असेसमेंट", *नगरलोक,* खण्ड XXXIV, संख्या 4, अक्तूबर-दिसम्बर।

मिश्रा, श्वेता, 1995, "लैण्ड रिफार्म्स एंड एम्पावरमेंट ऑफ वुमैन", *कुरुक्षेत्र,* खण्ड XLIV, संख्या 1, अक्तूबर।

मिश्रा, श्वेता, 1997, "वुमैन एंड सैवंटी थर्ड कंस्टीट्यूशन अमेन्डमेंट एक्ट : ए क्रिटिकल एप्रेज़ल", *सोशल एक्शन,* खण्ड 47, संख्या 1, जनवरी – मार्च।

नारायण, के.एस., 1997 "पॉलिसी इंटरवेंशन एण्ड इमर्जिंग पैटर्नस ऑफ लीडरशिप : स्टडी ऑफ जेड पी चेयरपर्सन्स इन कर्नाटक", इन विनोद व्यासुलु (संपा.) *फेसेट्स ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज इन कर्नाटक,* रावत, जयपुर।

नारायण, के.एस., 2005, "रिजर्ववेशन फॉर बैकवर्ड क्लासिज इन कर्नाटक पंचायती राज इंस्टीट्यूशन्स" स्टीफनी टावा लामा एवं रेवल (संपा.) *इलैक्टोरल रिजर्ववेशनस, पॉलिटिकल रिप्रजेंटेशन एंड सोशल चेंज इन इंडिया,* मनोहर, नई दिल्ली।

पंचायती राज अपडेट, सामाजिक विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली, (i) मई, 1995; (ii) जून 1995; (iii) नवम्बर 1995; (iv) जून 1996; (v) जुलाई 1996; और (vi) अप्रैल; 1997।

पिण्टो पैटरिशिया, 2003, "टैन इयर्स ऑफ पंचायती राज : प्रोब्लम्स एंड प्रोसपेक्टस", महिला राजनीतिक सशक्तिकरण दिवस समारोह पर सामाजिक विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली द्वारा अप्रैल 23 –24, 2003 पर आयोजित सेमिनार में प्रस्तुत पेपर।

रेड्डी, जी. नारायण, 2002, "इम्पावरिंग वुमेन थ्रू सेल्फ-हैल्प ग्रुप्स एंड माइक्रो-क्रेडिट : दी केस ऑफ

एन आई आर डी एक्शन रिसर्च प्रोजेक्टस", *जर्नल ऑफ रूरल डेवलपमेंट,* खण्ड 21, संख्या 4, अक्तूबर-दिसम्बर।

रिपोर्ट एण्ड रिक्मेंडेशन्स, 1994, "वर्कशॉप ऑन वन इयर ऑफ पंचायती राज : चैलेंजस टू वुमैनस रोल, सेंटर फॉर डेवलपमेंट स्टडीज एंड एक्शन, नई दिल्ली, 12-13 दिसम्बर।

शर्मा, अशोक, 2002, "पालिटिकल इम्पावरमेंट ऑफ वुमेन इन लोकल गवर्नमेंट इंस्टीट्यूशन्स : दी केस ऑफ जयपुर कोर्पोरेशन", *प्रशासनिक,* खण्ड XXIX, संख्या 1, जनवरी-जून।

सिंह, यू. बी., 1997, "डेमोक्रेटिक लीडरशिप इन अर्बन लोकल बोडिज – ए स्टडी ऑफ उत्तर प्रदेश", *नगरलोक,* खण्ड XXIX, संख्या 3, जुलाई-सितम्बर।

सिंहरॉय, देबल के., 2003, "वुमैन, सोसाइटी एंड दी स्टेट : सम रिफ्लेक्शन्स ऑन द स्टेट्स एपोर्च टूवार्ड वुमैन्स इम्पॉवरमेंट इन सोसाइटी" अल्का धमेजा, (संपा.) कंटम्पेरेरी डिबेट्स इन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, प्रेटिन्स हॉल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली।

शुभा, के., एवं भार्गव, बी.एस., 2004, "पॉलिटिक्ल इम्पॉवरमेंट ऑफ वुमैन एट दी ग्रास रूट्स : दी केस ऑफ कर्नाटक" जी पालनिठुराई (संपा.), डाईनामिक्स ऑफ न्यू पंचायती राज सिस्टम इन इंडिया, खण्ड IV, कंसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली।

सुगाना, बी., 2002, "स्ट्रेटजीस फॉर इम्पॉवरमेंट ऑफ रूरल वुमैन", *सोशल वेलफेयर,* खण्ड 49, संख्या 5, अगस्त।

सुजाया, सी. पी. एवं जैन, देवकी, 2004, "रोल ऑफ वुमैन इन डिसेंट्रलाइजेशन" जी पालनिठुराई (संपा), डाईनामिक्स ऑफ न्यू पंचायती राज सिस्टम इन इंडिया, खण्ड IV, कंसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली।

दी हिन्दुस्तान टाइम्स, नवम्बर 1, 1994, और अप्रैल 21, 1995।

यू एन डी पी, ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट, 1993, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

"वुमैन्स इन पंचायती राज ट्रैनिंग इन्सीएटिवस इन कर्नाटक", 1995, *जनता,* मई 21।

5.8 अभ्यास

1) सशक्तिकरण का अर्थ और उसकी आवश्यकता की व्याख्या कीजिए।
2) सशक्तिकरण के लिए किए गए प्रयासों की चर्चा कीजिए। क्या आप जानते हैं कि ये प्रयास एक सार्थक सशक्तिकरण को प्रेरित करेंगे।

इकाई 6 विकेन्द्रित विकास के घटक – II : सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक प्रशासन

रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 विकेन्द्रीकरण का सामाजिक-आर्थिक घटक

6.3 विकेन्द्रीकरण का राजनीतिक प्रशासनिक घटक

6.4 सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक प्रशासनिक घटकों को सुदृढ़ करने हेतु कार्यवाही/उपाय

6.5 सारांश

6.6 मुख्य अवधारणाएँ

6.7 संदर्भ व अन्य लेख

6.8 अभ्यास

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- विकेन्द्रित विकास (Decentralised devel-opment) के सामाजिक-आर्थिक (Socio-economic) के साथ-साथ राजनीतिक प्रशासनिक घटकों (Politico-administrative components) को परिभाषित कर सकेंगे;
- विकेन्द्रित विकास के सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक घटकों का विश्लेषण सकेंगे; और
- विकेन्द्रित विकास के सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक प्रशासनिक घटकों को सुदृढ़ करने के उपाय बता सकने योग्य हो सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) – स्थानीय सरकारी निकायों को राजनीतिक-प्रशासनिक तथा वित्तीय शक्तियों के हस्तांतरण ने हाल ही के वर्षों में सारे विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। विकास की नीति में इसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्वों के रूप में एक माना गया है तथा आधुनिक राज्य के कार्यों की विविधता, अधिकता और जटिलता की अतिशय वृद्धि के फलस्वरूप सरकारी सेवाओं के प्रशासनिक संगठनों में एक मुख्य तत्व बन गया है। स्थानीय स्तर पर लोगों के साथ परस्पर संवाद एवं उनकी प्रतिपुष्टि के द्वारा राष्ट्रीय विकास की प्राथमिकताओं के लिए समर्थन जुटाने का यह एक मार्ग है।

विकासशील देशों में शासन में सुधार लाने के लिए विकेन्द्रीकरण का समर्थन नीतियों के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में किया जाता है तथा प्रायः सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक विकास के लिए एक आवश्यक पूर्वशर्त माना जाता है। विकेन्द्रीकरण के दो मुख्य आयाम हैं – सामाजिक-आर्थिक और

राजनीतिक प्रशासनिक। विकेन्द्रीकरण के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बढ़ती हुई तथा विकास की वृद्धि को सामान्य अर्थों में, ये आयाम प्रतिबिम्बित करते हैं (जैन, एस. पी.; 2003 : 588)। इस प्रकार विकेन्द्रीकरण के इन आयामों का गहरा अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो गया है।

यथानुसार, इस इकाई में हम विकेन्द्रित विकास के दूसरे घटकों जैसे सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक-प्रशासनिक पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। इकाई के पहले भाग में सामाजिक-आर्थिक घटक की संक्षेप में चर्चा करेंगे, क्योंकि इकाई 5 में इसकी विस्तार से चर्चा पहले ही की जा चुकी है तथा दूसरा भाग राजनीतिक प्रशासनिक घटक से सम्बन्धित होगा।

6.2 विकेन्द्रीकरण का सामाजिक-आर्थिक घटक

विकेन्द्रीकरण सफल नहीं हो सकता जब तक कि कमज़ोर वर्ग निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में भाग नहीं लेते। इसी को ध्यान में रखते हुए कमज़ोर वर्गों के लिए 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियमों की व्यवस्था की गई, जिसे सुधारवादी एवं स्वागत योग्य कदम के रूप में संबोधित किया गया। इस संवैधानिक गारंटी ने महिलाओं, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों को चुनाव लड़ने तथा ग्रामीण और शहरी निकायों में प्रतिनिधित्व के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान किए हैं।

शहरी और ग्रामीण सत्ता की संरचना ने कमज़ोर वर्गों की पहुँच को कानूनी रूप से आश्वस्त किया है जिससे व्यवस्था का सामाजिक आधार विस्तृत हुआ है। संवैधानिक गारंटी से पूर्व कमज़ोर वर्गों के सदस्यों ने सत्ता की संरचना में शायद ही कोई स्थान बनाया हो। फिर भी पंचायतों और शहरी निकायों में आरक्षण की नीति ने उनको सशक्त किया है और उनको अपनी समस्याओं को बताने व सहभागी व निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के माध्यम से सुलझाने का अवसर प्रदान किया है (चन्द्रशेखर, बी. के.; 2000 : 10)। इसने महिलाओं और कमज़ोर वर्गों की सुनिश्चित मान्यता व उत्पीड़ित वर्गों के प्रतिनिधित्व के लिए संस्थानिक माध्यमों का प्रबंध किया है (बुच, निर्मला; 2005 : 346)।

विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों प्रवृत्तियाँ दिखाई दीं। नकारात्मक प्रवृत्तियाँ पहले दृष्टिगोचर हुई, विशेषकर जहाँ अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति (SC/ST) के लोग तथा महिलाएँ पंचायत प्रमुख थे। इसके पीछे तथ्य ये था कि इन वर्गों से सम्बन्धित अधिकांश सदस्य अशिक्षित, अल्पमुखर तथा विशेषकर अनुभवहीन थे। अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के मामले में, प्रारंभ में केवल वे लोग ही आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों से चुने गए जिनके ऊपर समाज के प्रभावशाली वर्गों का प्रश्रय था और इसलिए पंचायती राज संस्थाओं (PRIs)/शहरी स्थानीय निकायों (ULBs) की औपचारिक बैठकों में उन संपन्न वर्गों के प्रवक्ता के रूप में कार्य किया (मिश्रा, एस. एन. तथा मिश्रा श्वेता, 2002 : 30)।

इसी प्रकार चुने जाने के बाद महिलाओं ने प्रतिनिधि हस्ताक्षर या निश्चित स्थान पर मोहर के रूप में, पुरुषों के निर्देशों और मार्गदर्शन में कार्य किया। कुछ मामलों में यह देखा गया है कि महिला प्रतिनिधि – पुरुष पंचायत नेताओं के परिवारों से सम्बन्धित हैं। कुछ अन्य मामलों में यह देखा गया कि अपनी स्वयं की महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए पुरुषों ने अपनी पत्नियों, बहुओं, बेटियों, भतीजियों आदि को खड़ा किया।

इस प्रकार, प्रारंभ में राजनीतिक रूप से सशक्त लोगों ने विकेन्द्रित विकास के सामाजिक-आर्थिक घटक को निष्फल करने के लिए उनको (महिलाओं, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों (OBC) को) अपने राजनीतिक हितों के लिए चुनाव लड़वाया (मिश्रा, श्वेता, 2002 : 40)।

दूसरी तरफ, कुछ सकारात्मक प्रवृत्तियाँ भी थीं। चुनावी परिणाम, विशेषकर महिलाओं के सम्बन्ध में, कुछ मामलों में काफी उत्साहजनक रहा है। महिलाओं ने केवल आरक्षित अपितु सामान्य श्रेणी के चुनाव

क्षेत्रों में भी अति आत्मविश्वास के साथ चुनाव लड़ा और अपने पुरुष प्रतिद्वंद्वियों को पराजित किया। निःसंदेह, इस प्रकार के मामले बहुत नहीं थे परन्तु वे कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। कई मामलों में पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं के चुने जाने का प्रतिशत आरक्षित कोटे से अधिक था। पंचायती राज संस्थाओं में प्रथम चुनावों के तुरंत बाद कर्नाटक में 43 प्रतिशत, मध्य प्रदेश में 38 प्रतिशत, तथा पश्चिम बंगाल में 35 प्रतिशत स्थानों पर महिलाओं ने स्थान प्राप्त किए (मिश्रा, श्वेता, 1995 : 116)। इस उत्साहजनक परिवर्तन के फलस्वरूप, उड़ीसा के पूर्व मुख्यमंत्री, श्री. बीजू पटनायक ने पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं के लिए 50 प्रतिशत आरक्षण के लिए कहा। हाल ही में बिहार के हुए चुनावों में महिलाओं के लिए 50 प्रतिशत सीटें आरक्षित की गईं, जो इन वर्गों के सामाजिक-आर्थिक स्तर को सुधारने की दिशा में एक स्वागत योग्य कदम था।

अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्ग के मामलों में, अभी तक हुए सर्वेक्षणों में भी लगभग यही तस्वीर प्रकट हुई। कुछ राज्यों जैसे कर्नाटक, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश आदि में, उनकी सहभागिता काफी प्रभावी थी और वे अपनी हैसियत और अधिकार पाने का दावा करने योग्य बने हैं। यह विशेष रूप से उन मामलों में घटित हुआ जहाँ चुने हुए प्रतिनिधि शिक्षित और अनुभवी थे। बिहार के मामले में भी 2001 के चुनावों में, बिना किसी आरक्षण के भी अति पिछड़े वर्ग के लोगों की बड़ी संख्या या तो मुखिया (3.9 प्रतिशत) अथवा जिला परिषद के सदस्यों के रूप में (3.5 प्रतिशत) निर्वाचित हुई।

तमिलनाडु में अनुसूचित जाति समुदाय के कुछ लोग विभिन्न पंचायतों में निर्वाचित हुए। पीने के पानी, सड़क संपर्क आदि जैसी बुनियादी सुविधाएँ इस समुदाय को उपलब्ध कराई गईं। परिणामस्वरूप, उनमें से 90 प्रतिशत मानवीय स्थितियों में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ग्राम सभा बैठकों में भाग लेने के लिए अनुसूचित जाति समुदाय के नेता स्वयं सेवा समूहों (Self-Help Groups; SHGs) को प्रोत्साहित करते हैं। एक अनुसूचित जाति की महिला अध्यक्ष ने स्वयं अनुसूचित जाति समुदाय के लिए स्वतंत्र रूप से सेवा करने के लिए एक ट्रस्ट बनाया (पलानीथुरई, जी; 2005 : 366-369)।

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों से चुने गए सदस्यों को पंचायतों के छोटे-छोटे कार्यों जैसे सामाजिक न्याय समितियों में प्रतिनिधित्व में जिम्मेदारी का काम सौंपा गया जिनमें विधिक रूप से अनुसूचित जातियों का अध्यक्ष बनना आवश्यक था। कई उदाहरण हैं जहाँ अनुसूचित जाति के नेता अनुचित निर्णयों को रोकने अथवा प्रभावशाली जातियों के वर्चस्व को चुनौती देने के लिए इन समितियों का प्रभावी उपयोग करने में सफल हुए। गुजरात के कुछ क्षेत्रों में अनुसूचित जाति के प्रतिनिधि सामाजिक न्याय समितियों को सशक्त करने में सफल हुए। परन्तु इस प्रकार की कार्यवाही तुलनात्मक रूप से कम तथा सामान्यतः आर्थिक और सामाजिक मुद्दों पर पोषित संघटन विधेयात्मक था (रॉबिन्सन, मार्क; 2005 : 23)।

सदस्यों और सरपंचों, विशेषकर महिलाओं की कर्त्तव्यनिष्ठा, सहभागिता एवं स्वाग्रहिता पहले से ही किंबदंती बन चुके हैं। उदाहरणार्थ गुजरात के कच्छ क्षेत्र के दूरदराज के अधिकांश गाँवों में पंचातयों की प्रमुख युवा और मध्य आयु की महिलाएँ थीं, जो गाँवों में जातिगत और कार्यात्मक मतभेदों को दूर करने के लिए सुदृढ़ प्रयासरत हैं तथा एकता और स्वच्छ प्रशासन की ओर प्रयत्नशील हैं (शिवरामकृषणन, के. सी.; 2000 : 116 में उद्धृत)। मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश के तीन राज्यों में महिलाओं के सम्बन्ध में बुच का अध्ययन इन संस्थाओं में काफी संख्या में अशिक्षित या केवल साक्षर (70.5 प्रतिशत) सामाजिक-आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्गों की महिलाओं (41.4 प्रतिशत गरीबी रेखा से नीचे की आय वाले परिवार) के प्रवेश का संकेत करता है। उनकी पंचायत में सहभागिता तथा चुने हुए प्रतिनिधियों के रूप में उनकी सम्बन्धित गतिविधियाँ काफी उत्साहजनक हैं। उदाहरणार्थ, पंचायत की बैठकों में उपस्थिति (65.5 प्रतिशत), इन बैठकों में अपने विचार प्रकट करने के प्रयास (42.6 प्रतिशत), पंचायती कार्यों के लिए साप्ताहिक समय लगाना (68.6 प्रतिशत), प्राप्त आवेदन तथा समस्याएँ

(46.1 प्रतिशत), इन समस्याओं पर ध्यान देना (34.5 प्रतिशत) तथा अपने काम की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास करना (42.1 प्रतिशत) (बुच, निर्मला; 1999)।

इसी प्रकार, तमिलनाडु में पुडुकोट्टई तथा थिरुवल्लु में, पंचायतों में महिलाओं की सहभागिता काफी अच्छी थी। उनमें से 72 प्रतिशत ने सभी बैठकों में ईमानदारी से नियमित रूप से भाग लिया, 95 प्रतिशत ने चर्चाओं में भाग लिया, 63 प्रतिशत ने सामुदायिक बैठकों में बातचीत में हिस्सा लिया, 63 प्रतिशत ने सुझाव प्रस्तुत किए तथा 38 प्रतिशत ने बैठकों में मतदान किया (अथरेया, वी. बी. और राजेश्वरी, के. एस.; 1998)।

शहरी स्थानीय निकायों के मामले में भी, महिला पार्षद शिक्षित हैं तथा अन्य महिला उन्मुख संगठनों के साथ सक्रियता से जुड़ी हुई हैं। उन्होंने वंचित महिलाओं की आवाज उठाने के लिए ज़ोरदार मंच तैयार किया है। उदाहरणार्थ कोलकत्ता में राजनीतिक रूप से जागरूक पार्षदों ने महिलाओं के मुद्दे राजनीतिक स्तर पर उठाए हैं (मैत्रा, शिप्रा, 2002:19)। कई अध्ययनों में यह देखा गया है कि महिला पार्षदों में महिलाओं के मुद्दों के अतिरिक्त, सड़कों के निर्माण, मरम्मत तथा रखरखाव, पीने के पानी का प्रबंध, स्वच्छता आदि जैसे मुद्दों को भी उठाया है। सिंह के अध्ययन यह प्रकट करता है कि महिलाओं का बहुमत (59 प्रतिशत) परिषदों की बैठकों में अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक रखती हैं। सामान्य वर्ग की महिलाएँ अपने विचार (68 प्रतिशत) पिछड़े वर्ग की महिलाएँ (50 प्रतिशत) तथा अनुसूचित जातियों (29 प्रतिशत) की तुलना में अधिक स्वतंत्रतापूवक रखती हैं (सिंह, सेवा एवं सिंह, रवीन्द्र; 2002 : 31-32)।

केरल के एक अध्ययन में, यह पाया गया कि पार्षदों ने अपने बलबूते पर कार्य करवाने के लिए पहल की हैं। उन्होंने सभी मामलों पर समिति में चर्चा की, एक-एक करके मामला उठाया तथा निगमों/नगरपालिकाओं में उचित विभाग से नियमित रूप से संपर्क रखा और प्रक्रिया को तेज करने का दबाव डाला ताकि कार्य सम्पन्न हो सके (शिवरामकृष्णन, के.सी.; 2006 : 174)।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि विकेन्द्रित विकास का सामाजिक-आर्थिक घटक काफी हद तक महिलाओं, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए समर्थन एवं सीटों के आरक्षण के कारण उपलब्ध हुआ है। उपरोक्त उदाहरण तथा अन्य उदाहरणों की इकाई 5 में विस्तार से चर्चा की गई है, जिससे स्पष्ट होता है कि जनसंपर्क संस्थानों तथा पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं, अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों को दिए गए आरक्षण ने अपनी स्थानीय आवश्यकताओं के सम्बन्ध में अपने गाँव तथा कस्बों/शहरों में शासन का हिस्सा बनाने में सहायता की है। इसने अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के पुरुषों और महिलाओं को प्रतिनिधित्व का एक आश्वस्त स्तर और नेतृत्व की स्थापना क़ी हिस्सेदारी उपलब्ध कराई है।

6.3 विकेन्द्रीकरण का राजनीतिक प्रशासनिक घटक

सामाजिक-आर्थिक घटक की तरह, विकेन्द्रित विकास का राजनीतिक-प्रशासनिक घटक भी महत्त्वपूर्ण हैं। दो घटक जैसे सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक-प्रशासनिक साथ-साथ चलते हैं। महात्मा गाँधी के सपनों को साकार करने तथा विकेन्द्रित विकास को सफल बनाने के लिए राज्य सरकारों के लिए यह महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है कि 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियमों के प्रावधानों को ईमानदारी से लागू करें। इन अधिनियमों से पूर्व, अधिकांश राज्यों में, सरकार के अत्यधिक नियंत्रण एवं निर्देश के कारण पंचायती राज संस्थाएँ तथा शहरी स्थानीय निकाय लम्बे समय तक प्रभावी नहीं रहे। परन्तु अब परिदृश्य बदल गया है। अधिनियमों ने गाँवों और शहरों के सर्वांगीण विकास के लिए पंचायती राज संस्थाओं तथा शहरी स्थानीय निकायों के ऊपर बड़ा उत्तरदायित्व सौंपा है।

राजनीतिक-प्रशासनिक घटक में विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के लिए कई महत्त्वपूर्ण मुद्दे सम्मिलित हैं। इन मुद्दों पर आगे के पृष्ठों में चर्चा की गई है।

उत्तरदायित्व

स्थानीय संस्थाओं के सम्बन्ध में लोगों के मन में विश्वास बैठाने के लिए उत्तरदायित्व (Accountability) एक मूल तत्व है। लोगों के मन में विश्वास जगाने के लिए यह एक पूर्व शर्त है ताकि सत्ता एवं जन संसाधनों के दुरुपयोग को रोका जा सके। पंचायती राज संस्थाएँ तथा शहरी स्थानीय निकाय सफल हो सकते हैं बशर्ते उत्तरदायित्व की समुचित व्यवस्था उपलब्ध कराई गई हो, क्योंकि नागरिक अपने प्रतिनिधियों से यह अपेक्षा रखते हैं कि वे उनकी आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा प्राथमिकताओं के प्रति संवेदनशील हों। इस प्रकार जब पंचायती राज संस्थाएँ तथा शहरी स्थानीय निकाय जिन नागरिकों की सेवा करते हैं उनकी आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील रहने चाहिए। यह उत्तरदायित्व दैनिक आधार पर होना चाहिए न कि पाँच वर्ष में एक बार जब वे वोट माँगने जाते हैं (घोष, बुद्धदेव, 2005: 261)।

केरल पंचायत अधिनियम में इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से मान्यता प्रदान की है। यह अधिनियम पंचायत से उनकी कार्यवाहियों के उत्तर प्राप्त करने की अनुमति प्रदान करता है। परन्तु नागरिकों ने इस अवसर का विस्तृत और प्रभावी उपयोग नहीं किया है (तत्रैव)।

उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर, सभी राज्यों ने वित्तीय लेखा परीक्षा के लिए प्रावधान किया है। हरियाणा, पंजाब, त्रिपुरा, तथा उत्तर प्रदेश को छोड़कर अधिकांश राज्यों ने सामाजिक लेखा परीक्षा से सम्बन्धित आवश्यक प्रावधान भी किए हैं। जहाँ तक कार्य प्रणाली का सम्बन्ध है यह मूलतः ग्राम सभा के माध्यम से सुनिश्चित किया गया है, जहाँ पंचायती राज संस्थाओं के सदस्यों से अपेक्षा की जाती है कि वे जनता की शंकाओं का समाधान करेंगे। केरल राज्य में विभिन्न विकास कार्यक्रमों के पर्यवेक्षण के लिए तथा अपने परिणामों के बारे में ग्राम सभा को रिपोर्ट करने के लिए निगरानी समितियों का गठन किया गया है (गुप्ता, डी.एन, 2004 : 48.53)। मध्य प्रदेश में, पंचायतों को, उनके द्वारा किए गए कार्यों का विस्तृत ब्यौरा बताना होता है। ग्रामवासी नाममात्र का शुल्क देकर किसी भी प्रलेख की प्रमाणित प्रतिलिपि ले सकते हैं तथा सामाजिक लेखा परीक्षा के दौरान ग्राम सभा के सदस्य मुद्दे उठा सकते हैं तथा चुने हुए सदस्यों से प्रश्न पूछ सकते हैं (तत्रैव, 124)। राजस्थान में किसान मज़दूर शक्ति संगठन (Majdoor Kisan Shakti Sangathan; MKSS) ने लोकप्रिय आंदोलनों को आयोजित किया तथा पंचायतों से, लोक निधि की मात्रा की उपलब्धता तथा उसे व्यय किए गए तरीके पर, सूचनाओं की माँग की। जन सुनवाई को आयोजित कर, विकास व्यय का हिसाब देने के लिए उन्होंने पंचायत नेताओं तथा सरकारी अधिकारियों को विवश किया (घोष, बुद्धदेव, 2005 : 261)।

उपरोक्त उदाहरण स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करते हैं कि नागरिकों के प्रति प्रतिनिधियों का उत्तरदायित्व सुनिश्चित करने के लिए संशोधन अधिनियम में पर्याप्त प्रावधान किए गए हैं। इन प्रावधानों को लागू करने के लिए वही सामाजिक सक्रियतावाद चाहिए जैसा कि राजस्थान में हुआ किसान मज़दूर शक्ति संगठन। लोग जागरूक होने चाहिए तथा पंचायतों/परिषदों में, यदि आवश्यकता हो तो पंचायती राज संस्थाओं/परिषदों के सदस्यों के निर्णयों पर प्रश्न उठाने चाहिए तथा परिषदों में चर्चा के दौरान सक्रियता से भाग लेना चाहिए। वे पारदर्शिता के तत्व बोध तथा सूचना के अधिकार को ठोस गुणवत्ता प्रदान कर सकते हैं।

स्थानीय निकायों में विधान सभा सदस्यों तथा संसद सदस्यों का प्रतिनिधित्व

जहाँ तक स्थानीय निकायों, विशेषकर पंचायती राज संस्थाओं में विधान सभा सदस्यों (MLAs) तथा संसद सदस्यों (MPs) के प्रतिनिधित्व का सम्बन्ध है सर्वे, संकेत करते हैं कि अधिकांश राज्यों में विधान सभा के सदस्य तथा संसद सदस्य ब्लॉक पंचायतों तथा जिला परिषदों के सदस्य हैं तथा उनको

सम्बन्धित पंचायतों की बैठकों में मतदान का अधिकार है। आंध्र प्रदेश, असम, बिहार, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा जैसे राज्य इस वर्ग में आते हैं, केवल मध्य प्रदेश के अपवाद को छोड़कर, जहाँ जिला परिषद की बैठकों में उनको मतदान का अधिकार नहीं है तथा हिमाचल प्रदेश में जहाँ दोनों स्तरों, जैसे ब्लॉक पंचायतों तथा जिला परिषदों, में अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के चुनाव अथवा उनको हटाने में मतदान का अधिकार नहीं हैं। केरल, महाराष्ट्र तथा राजस्थान जैसे राज्यों में ब्लॉक एवं जिला पंचायतों में विधान सभा के सदस्यों तथा संसद सदस्यों को प्रतिनिधित्व का प्रावधान नहीं है, जबकि तमिलनाडु में केवल जिला पंचायतों में प्रतिनिधित्व का प्रावधान है। उत्तर प्रदेश में वे सदस्य हैं परन्तु दोनों स्तरों पर उनको मतदान का अधिकार नहीं है। इसी प्रकार गुंजरात में ब्लॉक पंचायत में केवल विधान सभा के सदस्य स्थायी रूप से निमंत्रित हैं जबकि जिला पंचायतों में विधानसभा तथा संसद दोनों के सदस्य स्थायी रूप से नियंत्रित होते हैं परन्तु दोनों स्तरों पर उनको मतदान का अधिकार नहीं है (गुप्ता, डी.एन, 2004 : 48)। पदेन सदस्यों के रूप में, पंचायती राज संस्थाओं में विधान सभा के सदस्यों तथा संसद सदस्यों के प्रतिनिधित्व एवं मतदान के अधिकार के प्रावधान पर इस आधार पर आपत्ति उठाई गई है कि इससे उनके द्वारा पंचायतों में अत्यधिक नियंत्रण हो जाएगा। जिला परिषद के अध्यक्षों ने इसकी पवित्रता बनाए रखने के लिए इस मुद्दे पर बड़ी अप्रसन्नता व्यक्त की है। पंचायत सदस्य यह अनुभव करते हैं कि वे पंचायत की बैठकों में विधान सभा के सदस्यों तथा संसद सदस्यों की उपस्थिति से वे अपने को दबा हुआ तथा हाशिए पर अथवा पिछड़ा हुआ अनुभव करते हैं तथा बैठकों में बोलने से झिझकते हैं।

नौकरशाही की भूमिका (Role of Bureacracy)

पंचायती राज संस्थाओं (PRIs) तथा शहरी स्थानीय निकायों (ULBs) की कार्य प्रणाली चुने हुए तथा कार्यालय के कर्मचारियों के बीच समन्वय तथा सहयोग के अर्थों में कार्यात्मक सम्बन्धों की सहजता पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दो में, प्रशासनिक पक्षों को विचारात्मक पक्ष के अधीन कार्य करना चाहिए, अर्थात् नौकरशाही को निर्वाचित राजनीतिक नेतृत्व के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।

पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों की कार्य प्रणाली परेशान करने वाली प्रवृत्तियों का संकेत करती है। यह इस तथ्य के कारण कि राज्य अधिनियमों ने नौकरशाही के माध्यम से राज्य सरकारों को नियंत्रण करने, पर्यवेक्षण करने, भंग करने की शक्तियाँ तथा प्रस्तावों को समाप्त करने का पर्याप्त अवसर प्रदान किया है। नौकरशाही, अधिकांश राज्यों में निर्वाचित प्रतिनिधियों की अपेक्षा अच्छी स्थिति में हैं। यद्यपि कर्नाटक जैसे राज्यों में इस प्रकार की शक्तियाँ उच्चतर स्तर की पंचायतों के पास हैं (चन्द्रशेखर, बी. के.; 2000 : 10)।

आंध्र प्रदेश के मामले में मंडल परिषदों और जिला परिषदों के ऊपर नियंत्रण करने की शक्तियाँ पंचायती राज आयुक्त के पास हैं। जबकि जिलाधीश के पास (क) इन निकायों द्वारा पारित किसी भी प्रस्ताव को स्थगित करने या रद्द करने; (ख) चूक की स्थिति में कार्यवाही करने; (ग) अध्यक्ष (जिला परिषद (Zila Parishad; ZP)) अध्यक्ष (मंडल परिषद अध्यक्ष (Mandal Parishad; MP) तथा सरपंच (ग्राम परिषद (Gram Parishad; GP)) को निलम्बित करने; तथा (घ) जिला परिषद/मंडल परिषद/ग्राम पंचायत तथा स्थायी समिति में से किसी को भी भंग करने का प्राधिकार है। इसके अतिरिक्त, जिलाधीश जिला प्रशासन के प्रमुख के रूप में जिले में विकास कार्यों का समन्वय करता रहेगा क्योंकि विकास कार्यों तथा सेवा विभाग के सम्बन्धित स्टाफ के जिला परिषदों में स्थानान्तरित करने के लिए अभी तक कुछ नहीं हुआ है (तत्रैव : 28)।

आंध्र प्रदेश सरकार ने ग्राम सचिवालय बनांकर ग्राम प्रशासन में एक मुख्य परिवर्तन पुनःस्थापित किया है। जनवरी 1, 2002 से आंध्र प्रदेश में पंचायत सचिवालय में एक स्थायी कार्यकारी पंचायत सचिव – अस्तित्व में आया है। यह व्यवस्था राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, केरल तथा गुजरात जैसे राज्यों

में पहले ही लागू की जा चुकी है। पंचायत सचिवालय विधान द्वारा नीतिगत निर्णय लागू करते समय जिला तथा राज्य प्रशासन द्वारा सौंपे गए विभिन्न कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व का पालन करने में पंचायत सचिव प्रमुख भूमिका निभाता है (कुमार, ए. विजय तथा सुधाकर, ई.; 2003 : 202)।

परन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया गया है कि पंचायत सचिव व्यवस्था में कुछ कमियाँ हैं। इसकी इस आधार पर आलोचना की गई कि ग्राम पंचायतों पर राज्य सरकारों द्वारा पंचायत सचिवों को अध्यारोपित किया गया है जिससे ग्राम पंचायत के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शक्तियों की स्वतंत्र स्थिति पर प्रावधान तथा कभी-कभी उनके द्वारा प्रयोग की जा रही शक्तियों का अतिक्रमण हुआ है। आगे यह भी अनुभव किया गया कि लागू किए जाने के एक वर्ष के अंदर, ग्रामों को स्थानीय स्व-प्रशासन की इकाई के रूप में नहीं माना गया, अपितु उन्हें जिला तथा मंडल स्तरों पर सरकारी विभागों के अधीन और उनके कर्मचारी बना दिया गया है। क्योंकि वे ग्राम पंचायत के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं, वे अपने प्राधिकारों का उपयोग बिना किसी उत्तरदायित्व के करते हैं। इसके अतिरिक्त उनको बहुआयामी कार्यों को सौंपा गया जिससे राजस्व तथा मंडल परिषद अधिकारियों का अधीनस्थ बना दिया। ये अधिकारी ग्राम प्रशासन के मामलों में दखल देने में अधिक उन्मुख रहते हैं। परिणामस्वरूप, विकेन्द्रित विकास होने के स्थान पर ग्राम प्रशासन राजस्व तथा अन्य विभागीय अधिकारियों के हाथों, अधिक केन्द्रित होता जाता है, जो ग्राम लोकतंत्र की ग्राम नौकरशाही के हाथों में कठपुतली बनाता है (तत्रैव, 204-205)।

हरियाणा के मामले में जिला परिषद के पदेन् मुख्य कार्यकारी अधिकारी (Chief Executive Officer; CEO) के रूप में एक अतिरिक्त उप-आयुक्त का प्रावधान है। परन्तु पंचायत समिति कार्यकारी अधिकारी के विपरीत, जिला परिषद के अध्यक्ष के प्रशासनिक नियंत्रण के अधीन नहीं है। इसके अतिरिक्त सरकार वर्तमान जिला ग्रामीण विकास अभिकरण (District Rural Development Agency; DRDA) द्वारा नियुक्त व्यक्तियों में से इन सेवाओं के लिए किसी अधिकारी तथा कर्मचारी सहित कुछ अन्य अधिकारियों को कभी जिला परिषदों के अंतर्गत कार्य करने के लिए समय-समय पर तैनात करेगी (मिश्रा, एस. एन तथा मिश्रा, श्वेता; 2003 : 104)।

महाराष्ट्र, गुजरात आदि कुछ राज्यों में जिला प्रशासन तथा राज्य प्रशासन के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए जिलाधीश को कोई सीधा उत्तरदायित्व नहीं दिया गया है। जिलाधीश की भूमिका सामान्यतः कुछ कामों जैसे चुनाव अथवा पदाधिकारियों के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव के सम्बन्ध में रिपोर्ट करने की भूमिका तक ही सीमित है (चन्द्रशेखर, बी. के.; 2004 : 146)। गुजरात में, जिलाधीश पंचायती राज संस्थाओं के ऊपर अपनी किसी शक्ति का उपयोग नहीं करता। इस अपवाद के साथ कि वह उस सरपंच/उप-सरपंच को निलम्बित कर सकता है जिनके विरुद्ध नैतिक चरित्रहीनता की दांडिक कार्यवाही प्रवर्तित की गई हो (शर्मा, पी. आर. तथा जोशी, आर.पी. 2004 : 133)।

मध्य प्रदेश में प्रारंभ में जिलाधीशों को जिला परिषदों का मुख्य कार्यकारी अधिकारी बनाया गया तथा उनके साथ सहयोग करने के लिए पूर्णकालिक अतिरिक्त मुख्य कार्यकारी अधिकारी थे। बाद में, प्राथमिक रूप से भारतीय प्रशासनिक सेवाओं (Indian Administrative Services; IAS) तथा राज्य सिविल सेवाओं से स्वतंत्र मुख्य कार्यकारी अधिकारी नियुक्त किए गए। इन अधिकारियों को जिला ग्रामीण विकास अभिकरण के कार्यकारी निदेशक के रूप में भी कार्य करना था।

सन् 1996 में मध्य प्रदेश सरकार ने जिला सरकारों की स्थापना करके प्रशासनिक ढाँचे तथा पंचायती राज संस्थाओं के ढाँचे में परिवर्तन कर दिया। यह पंचायतों को अधिक प्रभावी बनाने तथा जनोन्मुख बनाने के लिए किया। साथ ही यह त्रिस्तरीय पंचायती राज संस्थाओं के बीच सहज सम्बन्ध बनाने के लिए किया गया ताकि उनके बीच कार्यों का स्पष्ट विभाजन हो। इस प्रकार जिला पंचायतें जिला सरकारें बन गई। उच्चतर स्तर की पंचायत के मुख्य कार्यकारी अधिकारी का निम्न स्तर की पंचायतों के प्रशासनिक स्टाफ पर प्रशासनिक नियंत्रण होगा (तत्रैव, 132)।

मध्य प्रदेश में जिला सरकारों की स्थापना विकेन्द्रीकरण प्रक्रिया तथा सरकार को अधिक उत्तरदायी तथा लोकतांत्रिक बनाने के अनुरूप है। जिला सरकारों को सभी जिला स्तरीय विकास योजनाओं तथा कार्यों एवं योजनाओं का मूल्यांकन, उनका पर्यवेक्षण, जाँच और अनुवर्तन करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। मूलभूत सिद्धान्त है जिला सरकारों को वह शक्तियाँ प्रत्यायोजित करना, जो नगरपालिकाओं तथा पंचायती राज संस्थाओं के कार्यक्षेत्र में नहीं हैं, ताकि नागरिक विकेन्द्रीकृत शासन का सही और पूरा लाभ उठा सकें (बेहड़, अमिताभ; 2000 : 677-79)। जिला सरकारों की पुनःस्थापना के साथ ग्राम स्तर सरकार की रूपरेखा बनी है ताकि ग्रामीणों को उन्हें प्रभावित करने वाले मुद्दों पर निर्णय लेने हेतु तथा नौकरशाही को ग्रामीणों के प्रति उत्तरदायी बनाया जा सके।

पश्चिम बंगाल के मामले में, जिलाधीश को जिला परिषद् का पदेन मुख्य कार्यकारी अधिकारी बनाया गया। एक अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट स्तर के अधिकारी तथा एक वरिष्ठ राज्य सिविल सेवा अधिकारी को क्रमशः जिला परिषद् का अतिरिक्त कार्यकारी अधिकारी तथा सचिव नियुक्त किया गया। परन्तु ग्राम विकास से सम्बन्धित विभिन्न विभागों की नौकरशाही को जिला अथवा किसी भी निम्न स्तर की पंचायत के नियंत्रणाधीन नहीं रखा गया। अपितु उनका सहयोग जिला परिषदों तथा पंचायत समितियों की स्थायी समितियों के माध्यम से लिया गया जिनमें वे सदस्य बनाए गए थे। इस प्रकार जिला नौकरशाही ने अब इस तथ्य के अनुरूप अपने को बना लिया था कि इनको पंचायतों के साथ कार्य करना है (तत्रैव, 243)।

पंजाब जैसे राज्य में, नौकरशाही को इन संस्थाओं के नियंत्रण और पर्यवेक्षण की वास्तविक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, जिसके कारण जनता राज के विपरीत अधिकारी राज हो गया है। खण्ड विकास तथा पंचायत अधिकारी या उस स्तर का कोई अन्य अधिकारी अविश्वास प्रस्ताव की चर्चा करने के लिए बैठक की अध्यक्षता करता है। निदेशक पंचायत एक सरपंच को निलम्बित कर सकता है अथवा उसको बहाल कर सकता है। निदेशक निर्वाचित प्रतिनिधियों के निलम्बन की अवधि भी तय कर सकता है। अयोग्यता, निलम्बन, जुर्माना और दण्ड जैसे अन्य सम्बन्धित क्षेत्रों में उपनिदेशक अथवा निदेशक का आदेश अंतिम होगा।

विभिन्न राज्यों के अनुभवों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य अधिनियमों ने नौकरशाही के माध्यम से राज्य सरकारों को नियंत्रण, पर्यवेक्षण, भंग करने की शक्ति तथा प्रस्तावों को निरस्त करने का पर्याप्त अवसर अथवा आधार प्रदान किया है। इस प्रकार के प्रावधान के परिणामस्वरूप जिला पंचायत नेतृत्व तथा प्रशासनिक नेतृत्व के बीच बार-बार परस्पर विरोध जैसी समस्याएँ पनपती हैं। यह मुख्यतः पंचायत कर्मियों, विशेषकर पंचायतों के अध्यक्षों और मुख्य कार्यकारी अधिकारियों के बीच शक्तियों, कार्यों, उत्तरदायित्वों के स्पष्ट विभाजन के अभाव के कारण है।

जिला ग्रामीण विकास अभिकरण की भूमिका

जिला ग्रामीण विकास अभिकरण (District Rural Development Agency; DRDA) का एक स्वतंत्र अस्तित्व था यहाँ तक कि जब विकेन्द्रीकरण की नई व्यवस्था संचालित हुई। विभिन्न ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन को जिला स्तर पर देखने के लिए जिला ग्रामीण विकास अभिकरण मुख्य अंग के रूप में था, विशेषकर गरीबीरोधी कार्यक्रमों में। फलस्वरूप जिला स्तर पर द्वैध शासन की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इसको दूर करने के लिए केन्द्र सरकार ने 1996 में जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को पंचायती राज संस्थाओं के साथ मिलाने अथवा पंचायती राज संस्थाओं के नियंत्रण में लाने की अनुशंसा की। सर्वेक्षण और अनुसंधान यह बताते हैं कि कुछ राज्यों को छोड़कर जिला ग्रामीण विकास अभिकरण की अभी भी एक स्वतंत्र स्थिति है।

आंध्र प्रदेश में, जिला ग्रामीण विकास अभिकरण का ग्राम विकास का अपना अलग कार्यक्रम है जो जिला परिषद के कार्यवाही योजना से अलग है। केरल में, जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को जिला

पंचायत के साथ मिला दिया गया है यद्यपि परियोजना निद्रेशक जिला पंचायतों की निधियों के वितरण के लिए उत्तरदायी है। मध्य प्रदेश तथा कर्नाटक ने भी जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को जिला परिषद में मिला दिया है। कर्नाटक पहला राज्य था जिसने सबसे पहले 1987 में ही जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को जिला परिषद में मिला दियां था तथा इसको अधिक वित्तीय एवं कार्यगत स्वायत्तता प्रदान की। इसी प्रकार, उत्तर प्रदेश में, जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को जिला परिषद में स्थानांतरित कर दिया गया, यद्यपि राज्य स्तर की नौकरशाही में विरोध था। जबकि राजस्थान, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, हरियाणा आदि राज्यों में जिला ग्रामीण विकास अभिकरण अभी भी स्वतंत्र रूप में कार्य कर रहा है।

इस प्रकार अधिकांश राज्यों में, जिला स्तर पर ग्राम विकास के लिए दो अलग निकाय हैं, यद्यपि कुछ राज्यों में जिला परिषद का अध्यक्ष जिला ग्रामीण विकास अभिकरण की शासन परिषद् के पदेन् अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है। तमिलनाडु, गुजरात तथा महाराष्ट्र जैसे राज्यों में जिलाधीश स्वयं अध्यक्ष है। परन्तु सभी राज्यों में कार्यकारी शक्तियाँ जिला मजिस्ट्रेट अथवा जिला विकास अधिकारी के पास रहती हैं जो कि एक नौकरशाह है (शर्मा, पी. आर. तथा जोशी, आर.पी.; 2004 : 188)।

उपरोक्त विश्लेषणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश राज्यों ने जिला ग्रामीण विकास अभिकरण के ऊपर जिला परिषदों के प्रभावी नियंत्रण की व्यवस्था करने के लिए जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को जिला परिषदों के साथ मिलाने के लिए उपाय किए हैं। यदि जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को नहीं भी मिलाया गया है तो भी जिला परिषद जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को निर्देश देना जारी रखेगी, क्योंकि यह जिला परिषद के प्रति उत्तरदायी है। दूसरे शब्दों में, जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को जिला परिषद और पंचायत विभाग के संपूर्ण निर्देशन में कार्य करना चाहिए।

जिला योजना समिति

जिला योजना समितियों (District Planing Committees; DPCs) को 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के द्वारा अनुच्छेद 243 जैड (डी) के अंतर्गत संवैधानिक स्थिति प्राप्त हो गई है। जिला योजना समिति पंचायतों और नगरपालिकाओं द्वारा तैयार योजनाओं को संघटित करके समूचे जिले हेतु प्रारूप विकास योजना के लिए अधिकृत है। इस नए विभाजन का निस्संदेह विकेन्द्रित योजना पर दूरगामी प्रभाव पड़ेगा तथा योजना निरूपण हेतु उत्तरदायित्व को वहन करने के लिए संस्था निर्माण के प्रयासों को प्रोत्साहन देगा जो सूक्ष्म स्तर की योजना के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होगी (सिंह, एस. के.; 2005 : 163)।

जहाँ तक जिला योजना समिति के गठन का सम्बन्ध है, सर्वेक्षण बताते हैं कि कई राज्यों में जिला योजना समिति का गठन नहीं किया गया है, जबकि हरियाणा और उड़ीसा जैसे कुछ राज्यों में यह गठन की प्रक्रिया में है। कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों में जिला योजना समिति का गठन पहले ही कर लिया गया है। जिला योजना समिति की संरचना और कार्यों में अंतर है। उदाहरणार्थ, केरल को छोड़कर सभी राज्यों में विधानसभा सदस्य और संसद सदस्य जिला योजना समिति के या तो सदस्य हैं या विशेष निमंत्रित हैं। जबकि राजस्थान, तमिलनाडु तथा उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में उनको मतदान का अधिकार दिया गया है। पश्चिम बंगाल, जैसे कुछ अन्य राज्यों में अभी भी पंचायत समिति के अध्यक्ष, विधान सभा के सदस्य तथा लोकसभा के सदस्य जिला योजना समिति के सदस्य बन सकते हैं और सरकार के विशेष आदेश द्वारा उनको मतदान का अधिकार है। तमिलनाडु में एक और अंतर भी दिखाई देता है जहाँ जिले में कुल खण्ड अध्यक्षों के 1/5 अध्यक्ष जिला योजना समिति के बारी-बारी से अध्यक्ष बनते हैं। किसी भी अन्य राज्य में ग्राम पंचायतों और खण्ड पंचायतों के अध्यक्ष जिला योजना समिति के सदस्य नहीं हैं।

जिला योजना समिति के अध्यक्ष के सम्बन्ध में भी, बहुत अंतर दिखाई देता है। मध्य प्रदेश में प्रभारी मंत्री जिला योजना समिति का अध्यक्ष होता है तथा जिलाधीश सचिव होता है। महाराष्ट्र में भी जिले का प्रभारी मंत्री जिला योजना समिति का अध्यक्ष होता है तथा जिलाधीश सदस्य सचिव होता है। हरियाणा में अध्यक्ष का चुनाव राज्य सरकार द्वारा नामित सदस्यों में से किया जाता है। जबकि कर्नाटक तथा केरल में जिला परिषद का अध्यक्ष, अध्यक्ष होता है तमिलनाडु में यह जिलाधीश होता है।

जहाँ तक जिला योजना समिति की शक्तियों और कार्यों का सम्बन्ध है, यहाँ भी अंतर और द्वैधता देखी जाती है। अनुच्छेद 243 जैड (2) I जिला योजना समिति के कार्यों के निर्धारण के लिए राज्य विधान सभा को अधिकृत करता है। अधिकांश राज्यों द्वारा सम्बन्धित पंचायत अधिनियमों में किन्हीं विशिष्ट कार्यों का निर्धारण नहीं किया है। उन्होंने प्रावधानों का यथानुसार मात्र दूसरे स्थान से लिया है। मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल तथा केरल जैसे कुछ राज्यों में जिला योजना समिति की कुछ विशिष्ट भूमिका तथा कार्यों का उल्लेख किया है। मध्य प्रदेश में जिला योजना समिति को जिला सरकार बना दिया है तथा प्रशासनिक तथा वित्तीय शक्तियों हेतु अधिकृत किया है परन्तु वह जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं है। जिला योजना समिति को स्थानांतरण और तैनाती, निविदाओं के अनुमोदन तथा योजनाओं की संस्वीकृति से सम्बन्धित कुछ शक्तियों के साथ अधिकृत किया है। पहले इन शक्तियों का प्रयोग सरकार अथवा निदेशालय द्वारा किया जाता था। जिला परिषद तथा जिला योजना समिति के बीच कुछ क्षेत्र द्वैध हैं तथा जिला योजना समिति को जिला परिषद की तुलना में अत्यधिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

दूसरी तरफ, महाराष्ट्र में, पंचायतों तथा नगरपालिकाओं द्वारा तैयार पंचवर्षीय योजनाओं तथा परिप्रेक्ष्यगत योजनाओं पर विचार करने हेतु जिला योजना समिति को जिले की विकास योजना बनानी होती है तथा जिले की वार्षिक योजना की प्रगति की जाँच करनी होती है।

पश्चिम बंगाल के मामले में, ग्राम पंचायत तथा खण्ड अपनी योजनाएँ बनाते हैं और ये तब जिला योजना समिति को अग्रेषित की जाती हैं। साथ ही सम्बन्धित विभाग भी अपनी योजनाएँ बनाते हैं और जिला योजना समिति को प्रस्तुत करते हैं। तत्पश्चात् जिला परिषद की उपसमितियों/स्थायी समितियों में इनकी चर्चा होती है। एक बार जब चर्चा हो जाती है और आवश्यक परिवर्तन समाविष्ट कर लिए जाते हैं, योजना का प्रारूप जिला योजना समिति को उसके अनुमोदन के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

केरल, विकेन्द्रित योजना प्रक्रिया अथवा "नीचे से योजना" को लागू करने के लिए बहुत आगे निकल गया है। इसका बहु प्रशंसित "नौंवी योजना के लिए जनता का अभियान" ने जनता की योजना के कई विचारों को उपलब्ध किया है। यह अभियान आश्वस्त करता है कि नौंवी योजना में 35–40 प्रतिशत निम्न स्तर के निकायों द्वारा तैयार योजनाएँ शामिल होंगी। नौवीं योजना के लिए जनता के अभियान का प्राथमिक उद्देश्य "पंचायतें/ नगरपालिका निकाय व्यवस्थित रूप से समन्वित योजनाएँ बनाएँ और प्राथमिकता के स्तर प्रदान करें"। कार्यान्वयन के प्रस्तावों से प्रत्येक चरण में योजना प्रक्रिया में अधिकतम सहभागिता को आश्वस्त किया गया है।

जिला योजना समितियों ने केरल में कार्य करना प्रारंभ कर दिया है। जिला योजना समिति ने पहले ही पिछड़े और अगड़े संपर्कों की दृष्टि से सम्बन्धित जिलों में पंचायत और नगरपालिकाओं की योजनाओं की संवीक्षा और समन्वय कर लिया है।

केरल में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रित विकास की प्रक्रिया सारे विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रही है। विश्व बैंक के अनुसार, "विकेन्द्रित योजना प्रक्रिया अपनी तरह की और दुनिया में सबसे बड़ी है" (चन्द्रशेखर, बी. के.; 2000 : 95)।

विभिन्न राज्यों में जिला योजना समिति की कार्य प्रणाली कुछ कमियाँ भी दर्शाती हैं। पहली, यद्यपि, जिला योजना समिति स्थानीय आवश्यकताओं के आधार पर जिला योजना बनाने के कार्य की जाँच करती हैं, फिर भी अधिकांश राज्यों में जिला योजना समिति का अध्यक्ष पंचायतों अथवा नगरपालिकाओं का निर्वाचित सदस्य नहीं होता। दूसरी, इस तथ्य के बावजूद कि योजना के लिए विशिष्ट ज्ञान और कुशलता चाहिए, जिला योजना समिति के पास पर्याप्त विशेषज्ञ नहीं हैं जोकि तार्किक निर्णय लेने के लिए इसके सदस्यों के रूप में तकनीकी योगदान कर सकें तथा विश्लेषण कर सकें। तीसरी, यद्यपि जिला योजना समिति का गठन कर दिया गया है फिर भी योजना इकाई के रूप में सहायक विभाग को पर्याप्त स्थान नहीं दिया गया है। और अंतिम, खण्ड अथवा ग्राम पंचायत स्तर पर किसी योजना समिति अथवा इकाई का अस्तित्व नहीं है जिससे स्थानीय स्तर की योजना बनाई जा सके तथा जिला योजना समिति को स्थानीय आवश्यकताओं और संसाधनों के बारे में सक्रिय योगदान कर सकें (गुप्ता, डी.एन.; 2004 : 227)।

इनके अतिरिक्त विकेन्द्रीकरण का समग्र योजना में, जिला योजना समिति ही केवल संवैधानिक निकाय है जिसमें कुल सदस्यों के 1/5 नामित हैं। यहाँ तक कि अध्यक्ष के मनोनयन का निर्णय भी राज्य विधान सभा पर छोड़ दिया गया है। फलस्वरूप, पंचायत और नगरपालिका व्यवस्था के बाहर जिला योजना समिति एक शक्तिशाली निकाय के रूप में उभर सकती है। (सिंह, एस. के.; 2005 : 164)।

विभिन्न राज्यों में विकेन्द्रित योजना का कार्यात्मक पक्ष यह दिखाता है कि इसमें कई कमियाँ हैं जैसे कि, प्रशिक्षित कर्मियों का अभाव, योजनाओं का अव्यवस्थित बाहुल्य, योजना प्रक्रिया की कठोरता एवं गुणवत्ता की जाँच का अभाव तथा संसाधनों की उपलब्धता (तत्रैव, 172)।

6.4 सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक प्रशासनिक घटकों को सुदृढ़ करने हेतु कार्यवाही/उपाय

पिछली इकाई, इकाई 5, में हमने पहले ही विकेन्द्रित विकास के सामाजिक-आर्थिक घटक तथा इसको मजबूत करने के उपायों पर विस्तार से चर्चा की है। इसलिए यहाँ हमारा मुख्य विषय राजनीतिक प्रशासनिक घटक को मजबूत करने के लिए अर्थपूर्ण सुझाव देना है।

ग़ैर-अधिकारियों और नौकरशाहों के परस्पर विरोधी या द्वैध कार्यों को टालने के लिए इन दोनों के बीच शक्तियों और कार्यों के सम्बन्ध में स्पष्टता होनी चाहिए। इस स्पष्टता के अभाव में गलतफहमी तथा मतभेदों की अधिक संभावना है। दोनों को न केवल अपनी शक्तियों और कार्यों की अपितु एक-दूसरे की समस्याओं, कठिनाइयों तथा उत्तरदायित्वों की जानकारी भी लेनी चाहिए। उनके बीच अच्छे सम्बन्धों के लिए आपसी समझ और आदर उपयोगी हैं। उन्हें आपस में प्रतियोगी नहीं समझना चाहिए अपितु उन्हें एक दूसरे का पूरक बनना चाहिए।

गुजरात और पंजाब की शैली पर एक अलग पंचायती राज सेवा की स्थापना करनी चाहिए। यह संगठनात्मक, कार्यात्मक तथा कार्मिकों की कई समस्याओं को सुलझा सकती है जो पंचायती राज तथा नगरपालिका प्रशासन के बीच टकराव का कारण बनती हैं। साथ ही "अधीनता का सिद्धान्त" जैसे सिद्धान्तों को अमल में लाने की आवश्यकता है, जैसा कि केरल में किया गया जहाँ सम्बन्धित विभागों का कार्य पंचायतों को स्थानांतरित किया गया, तथा जैसे कि कर्नाटक में सिद्धान्त का परिचालन किया गया कार्य का वितरण उचित स्तर पर किया गया न कि अनावश्यक रूप से उच्च स्तर पर। परिणामस्वरूप पंचायतों के ग़ैर-अधिकारिक तथा अधिकारिक कर्मियों के बीच कार्यों और उत्तरदायित्व का बँटवारा करते समय पंचायतों के बीच कार्यों की द्वैधता को रोका जा सकेगा (चन्द्रशेखर, बी.के.; 2000 : 12)।

जैसा कि योजना, संसाधनों के समुचित वितरण का एक अंगभूत उपकरण हो सकता है तथा संसाधन जुटाने की प्रक्रिया निर्धारित कर सकता है जो विकास की प्रक्रिया में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि स्थानीय स्तर की योजना को सशक्त करने के लिए कुछ उपाय किए जाएँ। इनमें से कुछ उपायों की नीचे चर्चा की जा रही है।

जिला योजना समिति में विभिन्न क्षेत्रों जैसे अर्थशास्त्र, मानव संसाधन विकास, तकनीकी, कृषि, स्वास्थ्य, अभियांत्रिकी (आधारभूत) तथा प्रबंधन विशेषज्ञ होने चाहिए तथा उनका कार्य होना चाहिए आवश्यक तकनीकी योगदान करना, आँकड़ों का विश्लेषण तथा कार्यवाही योजना की तैयारी में सहायता तथा जिला योजना समिति तथा निम्न स्तर पर फीडबैक (प्रतिपुष्टि) की जाँच करना तथा उपलब्ध कराना।

जिला योजना समिति का अध्यक्ष जिला परिषद अथवा नगरपालिका के निर्वाचित सदस्यों में से होना चाहिए।

जिला योजना समिति को केवल योजना बनाने का कार्य दिया जाना चाहिए, क्योंकि योजना एक जटिल प्रक्रिया है तथा इसके लिए विस्तृत तथा गहन प्रयासों की आवश्यकता होती है।

जिला योजना समिति को प्राथमिक रूप के पंचायतों तथा नगरपालिकाओं को उनकी योजना के निरूपण में निर्देशन एवं सहायता प्रदान करनी चाहिए। इसको जिले के समग्र विकास की नीतियाँ, प्राथमिकताएँ कार्यक्रम तथा कार्यान्वयन प्रक्रिया तैयार करनी चाहिए, ताकि क्षेत्र में उपलब्ध प्राकृतिक मानवीय तथा अन्य संसाधनों का अधिकतम तथा बुद्धिमतापूर्ण उपयोग सुनिश्चित किया जा सके।

जिला योजना समिति निम्न स्तर के शहरी स्थानीय निकायों में कार्यरत कार्मिकों को तकनीकी प्रशिक्षण दिलवाने के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित कर सकती है। इससे कार्मिकों की क्षमता में वृद्धि होगी और इस प्रकार योजना की गुणवत्ता में वृद्धि होगी।

जिला योजना समिति जिले के लिए बनाई गई योजना को बनाने का निर्णय लेने हेतु अधिकृत होनी चाहिए तथा इसे सूचनार्थ सरकार को भिजवाया जा सकता है।

जहाँ तक पंचायत के अध्यक्ष तथा सदस्यों के उत्तरदायित्व का सम्बन्ध है, केन्द्रीय अधिनियम में वित्तीय लेखा परीक्षा का प्रावधान किया गया है। प्रभावी होने की दृष्टि से इसमें प्रक्रियात्मक सरलता की आवश्यकता है जैसे एक निश्चित मूल्य से अधिक परियोजना अथवा मदों के लिए लेखों का निरीक्षण, ताकि पंचायतों और नगरपालिकाओं से प्रत्येक छोटे विवरण पर प्रश्न नहीं किया जा सके, जो प्रतिगामी हो सकता है।

आगे यह भी सुझाव दिया जाता है कि सारे वित्तीय ब्यौरे पंचायत कार्यालय के बाहर प्रदर्शित किए जाने चाहिए और सभी सदस्यों को दिए जाने चाहिए, ताकि पारदर्शिता बनी रहे। इसके अतिरिक्त लेखा परीक्षा भी पारदर्शी होनी चाहिए जैसे, प्रारंभिक चरण में ही, पंचायतों और नगरपालिकाओं के उत्तर तैयार करने से पहले लेखा परीक्षकों द्वारा उठाई गई आपत्तियाँ सभी वार्ड सदस्यों को दे दी जानी चाहिए। इसके पश्चात् अंतिम रिपोर्ट, पंचायत और ग्राम सभा की वित्तीय समिति तथा नगरपालिका और वार्ड सभा के समक्ष रखी जानी चाहिए (गुप्ता, डी. एन.; 2004 : 295 – 296)।

जहाँ तक सामाजिक लेखा परीक्षा का सम्बन्ध है, वहाँ इनकी आवश्यकता है: (i) प्रश्न उठाने की उचित प्रक्रिया; (ii) कार्यवाही का अभिलेखन; (iii) यदि आवश्यकता हो तो सदस्यों द्वारा अनुपालन; तथा (iv) की गई कार्यवाही के बारे में जनता को बताना। इनके अतिरिक्त, यदि संशोधन हेतु कार्यवाही न की गई हो मध्यस्थता के लिए प्रक्रिया होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, आवश्यक वस्तुओं की अनुपलब्धता, मज़दूरी का भुगतान न करना जैसे मामले हैं जिन्हें पंचायतों द्वारा ध्यान देने की आवश्यकता होनी चाहिए (जिसके लिए मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश जैसे कुछ राज्यों में उत्तरदायित्व पंचायतों को

दिया गया है। स्थानीय अध्ययन में यह देखा गया है कि, कई मामलों में, जनता की शिकायतों के बावजूद पंचायतों द्वारा कार्यवाही नहीं की जाती। इस प्रकार के मामले न्यायाधिकरण को भेजे जाने चाहिए (तत्रैव)।

आगे यह भी सुझाव दिया जाता है कि जिला और खण्ड स्तर पर वरिष्ठ नागरिकों (ग़ैर-राजनीतिक) में से जनता की निगरानी समितियों का गठन किया जाना चाहिए। इसे लोकपाल की भूमिका निभानी चाहिए तथा इसकी भूमिका सलाहाकार के रूप में होनी चाहिए। इसे, पंचायत और नगरपालिका अधिनियमों को कार्यान्वित करने में प्रक्रियागत कमियों और कठिनाइयों को देखना चाहिए।

स्थानीय निकायों की कार्य प्रणाली में पारदर्शिता बनाए रखने की दिशा में सूचना का अधिकार अधिनियम एक स्वागत योग्य कदम है। सूचना के अधिकार में प्रलेखों का उद्धरण प्राप्त करना तथा प्रमाणित प्रतिलिपियाँ प्राप्त करना, पंचायत और नगरपालिका के प्रशासनिक, विकासात्मक या विनियमितीकरण कार्यों से सम्बन्धित कोई भी सामग्री अथवा सूचना प्राप्त करना सम्मिलित है तथा पंचायत और नगरपालिका के मामलों से सम्बन्धित कोई प्रलेख या रिकार्ड भी सम्मिलित है।

जिला ग्रामीण विकास अभिकरण के कार्यों के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया जाता है कि जिला ग्रामीण विकास अभिकरण जिला परिषद के साथ मिला दिया जाना चाहिए। यदि मिलाया नहीं जाता तो जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को जिला परिषद तथा पंचायत विभाग के संपूर्ण निर्देशन के अन्तर्गत कार्य करना चाहिए। अन्य शब्दों में जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को जिला परिषद के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। यह भी देखा जाना चाहिए कि जिला ग्रामीण विकास अभिकरण कार्यक्रमों को लागू करने के लिए स्वयं अभिकरण न बन जाएँ। अपितु, उन्हें कार्यान्वयन व अन्य अभिकरणों को देखना चाहिए। उन्हें अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखना चाहिए परन्तु जिला परिषद के अध्यक्ष के अंतर्गत कार्य करना चाहिए – उनकी भूमिका जिला परिषदों को तकनीकी योगदान उपलब्ध कराने के लिए, सहायक होती है तथा पंचायत द्वारा कार्यान्वयन के लिए बैंक/सम्बन्धित विभागों के साथ समन्वय स्थापित करने में मदद करती है। उन्हें गरीबी विरोधी योजनाओं के लिए पारदर्शिता तथा उपलब्ध निधि के प्रभावी उपयोग को सुनिश्चित करना चाहिए।

ग्रामीण और शहरी स्थानीय निकाय की कार्य प्रणाली से यह भी प्रकट हुआ है कि पंचायतों और नगरपालिकाओं में उनके सदस्यों के रूप में विधान सभा सदस्यों तथा संसद सदस्यों की उपस्थिति के कारण कई समस्याएँ हैं। इसे निर्वाचित पंचायती राज तथा नगरपालिका सदस्यों द्वारा घोर आपत्तिजनक बताया गया है। यथानुसार, यह सुझाव दिया जाता है कि वर्तमान 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियमों में संशोधन किया जाना चाहिए जिससे ग्रामीण और शहरी स्थानीय निकायों में विधान सभा सदस्यों तथा संसद सदस्यों से सम्बन्धित प्रावधानों को समाप्त किया जाए।

6.5 सारांश

विकेन्द्रित विकास के सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक प्रशासनिक घटक को केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि उपरोक्त अनुशंसाएँ वास्तव में और सच्चे मन से लागू की जाएँ। सरकार द्वारा गंभीर प्रयास किए जाने चाहिए ताकि एक तरफ पंचायतों और नगरपालिकाओं के चुने हुए प्रतिनिधियों तथा विधानसभा सदस्यों तथा संसद सदस्यों के बीच चुने हुए तथा दूसरी ओर नौकरशाहों और जनता के प्रतिनिधियों के बीच परस्पर विरोध न हो। निश्चित दिशा निर्देशन के लिए, केन्द्रीय अधिनियमों में संशोधन की आवश्यकता है ताकि अधिनियम में आदेशात्मक प्रकृति का समावेश किया जा सके।

अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष जिनका उल्लेख करने की आवश्यकता है वे इस प्रकार हैं: जनता को समर्थ करना, विशेषकर महिलाओं, अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्ग, पारदर्शिता,

उत्तरदायित्व, योजना इकाई, समन्वय तथा वितरण व्यवस्था। अधिनियम में निश्चित अर्थों में इनका उल्लेख होगा केवल तभी विकेन्द्रित विकास के घटक को सही परिप्रेक्ष्य में स्थापित किया जा सकता है।

विकासशील देशों में शासन में सुधार के लिए नीतियों के लिए विकेन्द्रीकरण का एक महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में समर्थन किया जाता है। यह आयाम सामान्य अर्थों में, विकेन्द्रीकरण के उद्देश्य को प्राप्त करने में, बढ़ते हुए तथा कभी-कभी चरणबद्ध विकास को दर्शाते हैं।

ग्रामीण तथा शहरी सत्ता संरचना पर कमज़ोर वर्गों की पहुँच विधिक रूप से सुनिश्चित की गई है जिससे व्यवस्था के सामाजिक आधार का विस्तार हुआ है। उनको अपनी शिकायतें करने का तथा सहयोगी निर्णय प्रक्रिया के द्वारा समाधान करवाने का अवसर प्राप्त हुआ है।

राजनीतिक-प्रशासनिक दृष्टि से अभी बहुत कुछ प्राप्त करना है जैसे जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को जिला परिषदों के साथ मिलाना; जिला योजना समिति का प्रभावी और कुशल संचालन; उत्तरदायित्व तथा पारदर्शिता का प्रावधान; स्थानीय निकायों के कार्यों में संसद सदस्यों, विधान सभा सदस्यों तथा नौकरशाहों द्वारा कम हस्तक्षेप। जब तक सही गंभीरता के साथ ये प्रावधान लागू नहीं किए जाते तब तक राजनीतिक-प्रशासनिक घटक को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

6.6 मुख्य अवधारणाएँ

मज़दूर किसान शक्ति संगठन (Majdoor Kisan Shakti Sangathan; MKSS) : मज़दूर किसान शक्ति संगठन एक पंजीकृत संस्था है जो लोक निर्माण कार्यक्रमों के विभागीय कार्यान्वयन से सम्बन्धित भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए 1990 में गठित की गई थी। उन्होंने पूरी न्यूनतम मज़दूरी का भुगतान न होने के मुद्दे पर ग्रामीण मज़दूरों का साथ दिया। उन्होंने केन्द्र द्वारा प्रायोजित जवाहर रोजगार योजना में ग्राम पंचायत द्वारा कार्यान्वित निर्माण में फर्जी मास्टर रोल जैसे मुद्दों को भी उठाया। मज़दूर किसान शक्ति संगठन द्वारा प्रारंभ जन सुनवाई के तरीके को प्रारंभ किया गया जिसमें ड्रम बजाकर ग्रामवासियों को इकट्ठा किया जाता है तब जन निधि से हुए निर्माण कार्यों से सम्बन्धित सभी प्रलेखों की माँग की जाती है। जन सुनवाई आयोजित कर वे सरकारी कर्मचारियों तथा पंचायत नेताओं को विकास के व्यय का हिसाब देने को बाध्य कर देते हैं।

लोकपाल (Ombudsman) : लोकपाल एक अधिकारी होता है, जो सामान्यतः (परन्तु सदैव नहीं) सरकार अथवा संसद द्वारा नियुक्त किया जाता है, जिसे किसी नागरिक द्वारा की गई शिकायतों की जाँच और ध्यान रखने के लिए जनता के हितों के प्रतिनिधित्व का उत्तदायित्व सौंपा जाता है। कुछ क्षेत्रों में, कम से कम आधिकारिक रूप से लोकपाल "संसदीय आयुक्त कहलाता है (जैसे, पश्चिम ऑस्ट्रेलियाई राज्य लोकपाल)। इस शब्द की उत्पत्ति प्राचीन स्कैंडेविमाई भाषा के उम्बोइसमाओर (Umbodsmaor) से हुई है; और आधुनिक युग में इसका उपयोग स्वीडन से हुआ है। कार्यकारी शाखा से स्वतंत्र पर्यवेक्षण अभिकरण की स्थापना के द्वारा, नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए स्वीडन की

संसद ने 1809 में इसको संस्थापित किया। शब्द लोकपाल (Ombudsman) तथा इसका विशिष्ट अर्थ अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में ग्रहण कर लिया गया, तथा लोकपाल को अन्य सरकारों तथा यूरोपीय संघ जैसे संगठनों द्वारा संस्थापित किया गया।

किसी लोकपाल को सरकार द्वारा नियुक्त करना आवश्यक नहीं है; वे किसी निगम, समाचारपत्र, किसी गैर-सरकारी संगठन तथा सामान्य जनता के लिए भी कार्य कर सकता है। इस प्रकार का लोकपाल स्पष्ट है कि किसी सरकारी शक्तियों का उपयोग या दाण्डिक कार्यवाही नहीं करता।

स्वयं सहायता समूह (Self-Help Groups) : स्वयं सहायता समूह सामान्यतः लोगों के अनौपचारिक क्लब अथवा सभाएँ हैं जो उनकी जीवन स्थितियाँ सुधारने के लिए रास्ते खोजने हेतु साथ आने का निश्चय करते हैं। किसी स्वयं सहायता समूह की सबसे उपयोगी भूमिका इसके सदस्यों को बचत करने तथा ऋण लेने का अवसर उपलब्ध कराने की है तथा इनके सदस्यों के पास बैंकिंग सेवाएँ पहुँचाने के लिए वाटिका के रूप में कार्य करता है। ये समूह ऋण लेने वाले सदस्यों के लिए गारंटी व्यवस्था उपलब्ध करा सकते हैं अथवा वे अपने अधिकारों से युक्त ग्राम बैंकों का विकास कर सकते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में वित्तीय सेवाएँ प्राप्त करने हेतु लोगों के लिए स्वयं सहायता समूह ही एक मात्र मार्ग हैं। (http://www.ruralfinance.org/servlet/CD/ servlet?)])

6.7 संदर्भ व अन्य लेख

अथरेया, वी. बी.; एवं राजेश्वरी, के. एस.; 1998, वुमैन्स पार्टीसिपेशन इन पंचायती राज : ए केस स्टडी फ्रॉम तमिलनाडु, एम. एस. स्वामीनाथन फाउन्डेशन, चैन्नई।

बेहर, अमिताभ, 2000, "डिस्ट्रिक्ट गवर्नमेंट्स इन मध्य प्रदेश : इननोवेटिव इनीशिएटिव्स फॉर डिसेंट्रलाइजेशन ऑफ गवर्नेंस", *दी इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन"* खण्ड XLVI, संख्या 4, अक्तूबर-दिसम्बर।

बुच, निर्मला, 1999, फ्रॉम ऑप्रेसन टू एसरशन : ए स्टडी ऑफ पंचायत्स एण्ड वुमैन इन एम पी, राजस्थान एण्ड यू पी, सेंटर फॉर वुमैन्स डेवलपमेंट स्टडीज, नई दिल्ली, (माइमियो)।

बुच, निर्मला, 2005, "वुमैन्स एण्ड पंचायत्स : ऑपरचुनीटि्स, चैलेंजेज एण्ड स्पोर्टस", एल सी जैन (संपा) *डिसेंट्रलाइजेशन एंड लोकल गवर्नेंस,* ओरियन्ट लॉगमैन, नई दिल्ली।

चन्द्रशेखर, बी. के., (संपा.), 2000, पंचायती राज इन इंडिया – स्टेट्स रिपोर्ट 1999, टॉस्क फोर्स ऑन पंचायती राज, राजीव गाँधी फाउण्डेशन, नई दिल्ली, मार्च।

घोष, बुद्धदेव, 2005, "एकाउन्टेबिलिटी ऑफ पंचायत्स : एण्ड्स एंड मीन्स", एल सी जैन (संपा.) *डिसेंट्रलाइजेशन एंड लोकल गवर्नेंस,* ओरियन्ट लॉगमैन, नई दिल्ली।

जैन, एस. पी., 2003, "डिसेंट्रलाइजेशन इन इंडिया : एन एप्रैज़ल", एस. एन मिश्रा, एवं अन्य (संपा.) *पब्लिक गवर्नेंस एण्ड डिसेंट्रलाइजे. न*, खण्ड II, मित्तल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

कुमार, ए. विजय एवं सुधाकर, ई., 2003, "रोल ऑफ पंचायत सैकेटरी इन आंध्र प्रदेश – ए स्टडी" *दी इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन"* खण्ड XLIX, संख्या 2, अप्रैल-जून।

मित्रा, शिप्रा, 2002, "दी एम्पावर्ड वुमैन – इम्पलीकेशन्स फॉर अर्बन गवर्नेंस", *नगरलोक*, खण्ड XXXIV, संख्या 4, अक्तूबर-दिसम्बर।

मिश्रा, एस. एन. एवं मिश्रा, श्वेता, 2002, *डिसेन्ट्रलाइज्ड गवर्नेंस*, शिप्रा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

मिश्रा, श्वेता, 2002, "एम्पावरमेंट ऑफ वुमैन इन अर्बन लोकल बोडिज : एन असेसमेंट", *नगरलोक*, खण्ड XXXIV, संख्या 4, अक्तूबर-दिसम्बर।

पालनिठुराई जी., 2005, *इमर्जिंग डाइमेन्शन्स इन डिसेंट्रलाइजेशन*, कंस्पेट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली।

रोबिन्सन, मार्क, 2005, "ए डिकेड ऑफ पंचायती राज रिफार्म्स : दी चैलेंज ऑफ डेमोक्रेटिक डिसेंट्रलाइजेशन इन इंडिया", एल सी जैन (संपा.) *डिसेंट्रलाइजेशन एंड लोकल गवर्नेंस*, ओरियन्ट लॉगमैन, नई दिल्ली।

शर्मा, पी. आर. तथा जोशी, आर.पी. 2004 , "डाइमैशन्स ऑफ डिसेंट्रलाइजेशन : ए व्यू फ्रूम स्टेट्स" जी पालनिठुराई (संपा.), डाईनामिक्स ऑफ न्यू पंचायती राज सिस्टम इन इंडिया, खण्ड III, कंस्पेट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली।

सिंह, एस. के., 2005, "डिस्ट्रिक्ट प्लानिंग कमेटी : प्रोब्लम्स एंड प्रोस्पक्टस" एस एस चहर (संपा.) *गवर्नेंस एट ग्रासरूट्स लेवल इन इण्डिया*, कनिष्का, नई दिल्ली।

सिंह, सेवा एवं सिंह, रविन्द्रा, 2005, "पॉलिटिक्ल इम्पॉवरमेंट ऑफ वुमैन एन्डर 74थ एमैन्डमेंट एक्ट", *नगरलोक*, खण्ड XXXIV, संख्या 4, अक्तूबर-दिसम्बर।

शिवारामकृष्णन, के.सी. (संपा.) 2006, पीपुल्स पार्टीसिपेशन इन अर्बन गवर्नेंस, कंस्पेट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली।

शिवारामकृष्णन, के.सी. 2000, पॉवर टू दी पीपुल्स? दी पॉलिटिक्स एंड प्रोग्रेस ऑफ डिसेंट्रलाइजेशन, कोणार्क पब्लिशर्स,नई दिल्ली।

6.8 अभ्यास

1) विकेन्द्रित विकास के सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक प्रशासनिक घटकों की चर्चा कीजिए।

2) अपने विचार में आप विकेन्द्रित विकास के सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक प्रशासनिक घटकों को सुदृढ़ करने के लिए क्या उपाय सुझाएँगें।

इकाई 7 विकेन्द्रित विकास के घटक – III : विकास के लाभों का समान वितरण

रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 विकास से आप क्या समझते हैं?

7.3 पात्रता का सिद्धान्त

7.4 आवश्यकता का सिद्धान्त

7.5 संतुलन का सिद्धान्त

7.6 छोटे समूहों में वितरण के लिए लोगों की प्राथमिकता को प्रभावित करने वाले कारक

7.7 संसाधनों का समाज में व्यापक वितरण करने के लिए लोगों की प्राथमिकताओं को प्रभावित करने वाले कारक

7.8 सारांश

7.9 मुख्य अवधारणाएँ

7.10 संदर्भ व अन्य लेख

7.11 अभ्यास

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- विकास के लाभों का समान वितरण (Equal distribution) करने के संदर्भ में विकास को परिभाषित कर सकेंगे;
- विकास के लाभों का समान वितरण करने के लिए बुनियादी सिद्धान्त और मानदण्डों के बारे में समझ सकेंगे;
- न्याय के सिद्धान्तों की चर्चा कर सकेंगे; और
- वितरण के लिए लोगों की प्राथमिकता को प्रभावित करने वाले तथ्यों की पहचान कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

विकास के लाभों का समान वितरण बहुत महत्त्वपूर्ण है और विकेन्द्रित विकास का अभिन्न घटक है। यहाँ वितरण के लिए लागू बुनियादी सिद्धान्तों और मानदण्ड को जानने और विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। यह वितरण स्थाई मानवीय और सामाजिक विकास के लिए लाभों या फायदों के समान वितरण के माध्यम से विकेन्द्रीकरण विकास के लिए लोगों की अनुभूति और मूल्यांकन के साथ आवश्यकता, त्याग, समानता, भेद और सामाजिक न्याय की अनुभूति और मूल्यांकन के साथ ही उनकी

स्वीकार्यता और क्षमता के संदर्भ में किया जाता है। इस इकाई में हम विकास के लाभों के सामन वितरण के संदर्भ में विकास का अभिप्राय, विकास के लाभ वितरण के लिए लागू बुनियादी सिद्धान्त और मानदण्ड को समझने और न्याय के सिद्धान्तों की चर्चा करेंगे।

7.2 विकास से आप क्या समझते हैं?

प्रगति और विकास के बीच अंतर की संक्षिप्त चर्चा करें तथा विकास के आर्थिक और ग़ैर-आर्थिक संदर्भों के बीच भेद भी बताएँ। विकास एक बहुआयामी (multi-dimensional) और बहुशाखा (multi-faceted) वाली घटना है। यह एक निरंतर और जटिल प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न अभिकरण और विभिन्न मतों, विभिन्न जीवन स्तरों, व्यवसायों और विभिन्न सांस्कृतिक पहचान वाले लोग शामिल हैं। इसमें लोगों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियों पर निर्भर असंख्य मध्यस्थ कार्यनीतियाँ शामिल हैं। स्थानीय प्रवृत्तियों से भिन्न विकास के बाहरी स्वरूप एक बिन्दु तक तो जा सकता है परन्तु दीर्घकाल में स्थाई कमियों और सामाजिक संस्थात्मक असंतुलनों को दूर करने में प्रभावहीन रहते हैं। वास्तविक विकास तभी संभव हो सकता है जब सभी प्रकार के लोगों, पुरुषों और महिलाओं, उच्च व अभावग्रस्त लोगों की सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान हो जाए। इस प्रकार महिलाओं और आधी से अधिक आबादी के अन्य बहिष्कृत वर्गों सहित सामज के सभी वर्गों का विकास किए बिना विकास कार्य अधूरा है।

विकास कार्यनीतियों को अर्थशास्त्रियों द्वारा बचत, निवेश, आयात-निर्यात और प्रगति को बाजारों और मूल्यों की घटती-बढ़ती भूमिकाओं के आबंटन और राज्य के नियंत्रण और खर्चों के संदर्भ में सामान्य और विशिष्ट संकल्पनाओं में प्रयुक्त किया जाता है। कैथ ग्रीफिन प्रसिद्ध विकास अर्थशास्त्री ने 6 मुख्य विकाय कार्यनीतियों की पहचान की है जिनका विकासशील देशों में सरकारों द्वारा पालन किया जाता है। इन्हें मौद्रिक, खुली अर्थव्यवस्था, औद्योगिकीकरण, हरित क्रांति, पुनर्वितरण और समाजवादी नीतियों के रूप में वर्णन किया जाता है (ग्रीफिन, 1989)।

इस प्रकार विकास का अर्थ प्रायः संवर्धित शिक्षा, आमदनी, दक्षताओं, विकास और रोज़गार के माध्यम से लोगों के जीवन स्तरों में सुधार करना है। विकास का अभिप्राय है कि लोगों के पास श्रेष्ठ आवास, सुरक्षा, भोजन वस्त्र तथा पढ़ने और लिखने की निपुणता भी होनी चाहिए। विकास में प्रायः सामाजिक संरचनाओं, लोक प्रवृत्तियों और असंतुष्ट से संतुष्ट होने तक जीवन की राष्ट्रीय स्थिति में मुख्य परिवर्तन होना शामिल है (सर्वेश, 1999 : 77)।

मेनसेल व वेह्न (Mansell and Wehn) (1998 : 8) का तर्क है कि अधिक विकसित देशों (Most developed countires; MDCs) और कम विकसित देशों (Least developed countries; LDCs) में विकास का एक जैसा अर्थ नहीं होता है। उनका यह भी कथन है कि विकास को आर्थिक प्रगति, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि और औद्योगिक देशों के बराबर जीवन स्तर प्राप्त करने को शामिल करने के लिए दूसरे विश्व युद्ध से ही समझा जाने लगा है। फिर भी विकास के कई क्षेत्र हैं जिन्हें स्थाई और पूर्ण विकास के लिए बिकसित करना आवश्यक है जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य व्यवस्था, तकनीकी विकास, वितरण और परिवर्तन।

आर्थिक विकास

पिछले 20 वर्षों में आर्थिक विकास का अर्थ काफी बदल गया है। दो अग्रगामी अध्ययन डुडली सीर्स का *"द मिनिंग ऑफ डेवलपमेंट"* (*The Meaning of Development*) (1967, 1979) आरंभिक काल के लिए और अमर्त्स सेन का *"डेवलपमेंट एज फ्रीडम"* (*Development as Freedom*) (1999) बाद की अवधि के लिए किए गए हैं। इन अध्ययनों में विकास के अभिप्राय में विकास के साधन और कार्यनीतियाँ तथा इसके अध्ययन की विचारधाराओं को भी शामिल किया गया है। यदि इनसे दूर जाकर कार्यों की

जाँच की जाती है तो हम पाते हैं कि दोनों अर्थशास्त्रियों का अपने समय का विकास साहित्य आलोचनात्मक था। सीर्स के लिए नवसंस्थापित अर्थशास्त्र में त्रुटिपूर्ण उदाहरण और आश्रित सिद्धान्त था जिसमें नीति यथार्थवाद का अभाव था। 1989-1991 में राज्य समाजवाद के पतन के बाद अर्थशास्त्रियों में वैचारिक मतभेद कम होने लगा था। अमर्त्य सेन ने वैचारिक विषयों पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया परन्तु नोबल पुरस्कार समिति के अनुसार उसने "आर्थिक समस्याओं – जैसे विकास की चर्चा, पर एक नैतिक आयाम की पुनःस्थापना की है।

मानव विकास

पिछले दशक में मानव विकास संकल्पना ने विकास अर्थशास्त्र में काफी ध्यान आकर्षित किया है क्योंकि यह प्रगति और विकास में एक सम्बन्ध स्थापित करता है। विकास का केवल आय और धन के विस्तार से कुछ अधिक अभिप्राय होता है। मानव विकास को एक उद्देश्य के रूप में जबकि प्रगति को एक साधन के रूप में अनुभव किया जाता है। 1990 की मानव विकास रिपोर्ट विकास को लोगों के विकल्प को व्यापक बनाने की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करती है। इन व्यापक श्रेणी के विकल्पों का महत्त्वपूर्ण तथ्य है दीर्घ और स्वस्थ जीवन जीना, शिक्षित होना और श्रेष्ठ जीवन स्तर के लिए अभीष्ट संसाधनों तक पहुँच होना। मानव क्षमताओं को अच्छे स्वास्थ्य, ज्ञान और दक्षताओं के द्वारा बनाया जा सकता है। अपने विकल्पों को व्यापक बनाने और उनके उपयोग की क्षमता के लिए मानव क्षमताओं का निर्माण होना और प्राप्त क्षमताओं को लोगों द्वारा उपयोग करना बुनियादी आवश्यकताएँ हैं।

समग्र विकास के लिए व्यापक भागीदारी हेतु शक्तियों के एकत्रित होने के बावजूद विकास के लाभों से अत्यधिक लोगों को दूर रखना जारी है। इसमें महिलाओं सहित समाज के कमज़ोर वर्ग अधिक हैं। इसलिए प्रगति को स्थाई बनाने और विकास को ठोस एवं व्यवहार्य बनाने के लिए विकास के लाभों का समान वितरण होना बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

वास्तव में समान वितरण और सामाजिक न्याय क्या हैं?

जब हम समान वितरण और सामाजिक न्याय के बारे में चर्चा करते हैं तो प्रश्न उठता है कि हम वास्तव में किस बारे में चर्चा कर रहे हैं? अशिक्षित रूप में हम चर्चा करते हैं कि मानव समाज में सदस्यों के बीच अच्छी और बुरी चीजें कैसे वितरित की जानी चाहिए। जब हम अधिक ठोस रूप में किसी नीति या किसी मामले की स्थिति की सामाजिक अन्याय के रूप में आलोचना करते हैं तो हमारा विश्वास होता है कि किसी व्यक्ति या व्यक्तियों की किसी श्रेणी को उतना लाभ नहीं मिलता जितना उसे मिलना चाहिए या उस पर उतना अधिक भार है जितना उस पर नहीं होना चाहिए। इसकी तुलना उसी समाज के अन्य सदस्यों से की जाती है।

दूसरा सम्बन्धित प्रश्न है कि ठीक-ठीक अच्छा या बुरा, लाभ और भार क्या है जिसका आबंटन या समान वितरण न्याय विकास का सरोकार है। हम तुरंत आय और धन, पदों, शिक्षा के अवसरों और विकास के लाभों के बारे में सोचने लगते हैं परन्तु इस सूची को कितना बढ़ाया जाना चाहिए और किन विशिष्ट मदों को शामिल करना या छोड़ना तर्कसंगत है? लाभों की आरंभिक सूची में न्यूनतम निम्नलिखित शामिल होना चाहिए: धन, और वस्तुएँ, संपत्ति, पद और नौकरियाँ, शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, आवास, परिवहन, कल्याण, बाल देखभाल, व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान, पुरस्कार, मनोरंजन और अवकाश के अवसर। इन्हें वितरणात्मक न्याय से इस प्रकार सम्बन्धित बनाया जाता है कि ये महत्त्वपूर्ण चीजें हैं जिनका आबंटन मुख्य सामाजिक संस्थाओं की कार्य प्रणाली पर निर्भर करता है। इन वस्तुओं का महत्त्व व्यक्तियों के जीवन स्तर और विकल्पों को व्यापक बनाने के तरीके के कारण है। इस प्रकार समान वितरण वितरणात्मक न्याय का महत्त्वपूर्ण घटक बन जाता है जो बदले में सामाजिक न्याय का महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

दूसरे यदि सामाजिक न्याय का अर्थ वितरण से है तो इसका वास्तविक अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि कोई वितरण अभिकरण है जो इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि हमें किसके न्याय या अन्याय का विश्लेषण करना चाहिए। और क्या हम उन सरकारी नीतियों के बारे में सोच रहे हैं जो समाज में विभिन्न समूहों के भाग्य को प्रभावित करती हैं या हमारा सम्बन्ध इससे अधिक व्यापक है जिसमें लोगों द्वारा प्राप्त वस्तुओं का हिस्सा और फलतः उनकी स्थिति को निर्धारित करने वाली सभी प्रकार की सामाजिक गतिविधियों को शामिल किया जाता है।

न्याय के मोटे तौर पर पाँच सिद्धान्त हैं जिन्हें विकास के लाभों का समान वितरण के लिए प्रयोग किया जा सकता है। ये सिद्धान्त हैं: समानता का सिद्धान्त, उपयोगिता का सिद्धान्त, क्षतिपूर्ति व न्याय का सिद्धान्त, निष्पक्षता के रूप में रालसियन का न्याय का सिद्धान्त और सामाजिक न्याय की संकल्पना भी। न्याय के ये सभी सिद्धान्त समाज के सदस्यों में विकास के लाभों एवं भार को किसी न किसी प्रकार के वितरण में शामिल करते हैं। औपचारिक समानता का सिद्धान्त पात्रता के सिद्धान्त के लिए विश्वास प्रदान करता है। आनुपातिक समानता की संकल्पना आवश्यकता के अनुसार विभाजन को स्वीकार करती है जबकि राल्सियन सिद्धान्त और सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा की संकल्पना दो विरोधी सिद्धान्तों के बीच एक प्रकार के समझौते का सुझाव देती है।

विभिन्न विद्वान विभाजन के विभिन्न संभावित आधार प्रस्तुत करते हैं। इसके कारण लोगों के कृत्य, विशेषताएँ आवश्यकताएँ, स्थिति, पात्रता या अधिकार सभी उपयुक्त हालातों पर आधारित कारण विभाजन के उपयुक्त आधार हैं। इन विषयों पर की जाने वाली अंतहीन बहस को ध्यान में रखते हुए मानक स्थितियों को उपयोगी रूप से या तो समानतावादी या इच्छा स्वातंत्र्यवादी के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। समानतावादी पात्रता और अधिकार के अनुसार वितरण के विचार का समर्थन नहीं करते हैं। उनके अनुसार आर्थिक संपत्तियों का समान वितरण होना चाहिए। दूसरी तरफ स्वतंत्रवादी तर्क देते हैं कि निर्बाध और उचित/न्यायपूर्ण वैयक्तिक व्यवहार के माध्यम से जिनके पास आर्थिक संपत्ति प्राप्त हुई उसे वहीं छोड़ देना चाहिए। यह विचारधारा पात्रता के सिद्धान्त में विश्वास करती है तथा आवश्यकता के अनुसार वितरण की विचारधारा को निरस्त करती है। अब हम न्याय के विभिन्न सिद्धान्तों की चर्चा करेंगे।

7.3 पात्रता का सिद्धान्त

पात्र के अनुसार न्याय इस सिद्धान्त पर आधारित है कि लोगों को उनके गुणों या पात्रता के अनुसार पुरस्कृत करना उचित है। एड्म स्मिथ द्वारा पहली बार अपनाए गए व्यवसायीवादी आदर्श ने मध्यम वर्गों के सदस्यों को यह माँग करने के लिए प्रेरित किया कि पेशा, पुरस्कार और धन सर्वाधिक बुद्धिमान लोगों को मिलना चाहिए चाहे उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि कुछ भी हो (स्किनर व विल्सन, 1975)। स्पेंसर ने भी पात्रता के अनुसार वितरण के सिद्धान्त को इस प्रकार प्रस्तुत किया है:

"कार्य करने पर प्रत्येक व्यक्ति को उसके लाभ और हानि मिलनी चाहिए। जब हम कार्य करते हैं और विशेषतः जब हम उत्पादन करते हैं तो स्वाभाविक है कि हम कुछ लाभ उत्पन्न करते हैं जो हमारी कोशिशों, निपुणताओं और क्षमताओं पर निर्भर करता है और उनके लाभ हमें मिलने चाहिए" (स्पेंसर, 1976)।

पात्रता के सिद्धान्त को अन्य समर्थक ज्योर्ज हैरिस है। उसका मत है कि जब कभी सामाजिक मूल्य श्रेष्ठता के नियम के लिए चुनौती बने उन्हें अवश्य त्याग देना चाहिए। उसके द्वारा समर्थित बुनियादी नियम यह है कि जब तक व्यक्ति बराबर हैं तो उन्हें उनके गुणों के अनुपात में अवसर मिलने चाहिए। इस प्रकार उसके सिद्धान्त कसौटी "सर्वोत्तम नियम" है। गोल्डमैन भी इस नियम की तर्कसंगतता को जोड़ता है कि लाभ और दायित्व (भार) क्षमता और गुणों के आधार पर वितरित किए जाने चाहिए।

उसके अनुसार स्थितियों के मानदण्डों को पूरा करने में प्रयत्न और दक्षता महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उसका कथन है कि पात्रता का नियम व्यक्तियों के लिए अपनी क्षमताएँ व योग्यताएँ विकसित करने और अधिकतम उत्पादक होने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करेगा। यदि सामाजिक महत्त्व और श्रेष्ठ बुद्धि की स्थितियाँ निरकुंश और स्वेच्छा से भरनी दी जाएगी तो जनता के लिए उपयोगिता तेज़ी से घट जाएँगी। यदि लोगों को वे लक्ष्य प्राप्त नहीं करने दिए जाएँगे जिनके लिए उन्होंने उत्पादक कार्य किया है तो वे आत्म उपलब्धि, आत्म संतुष्टि और गर्व अनुभव करने की महत्त्वपूर्ण भावना से वंचित रह जाएँगे ये मुख्य भाव हैं जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति अपने समुदाय से प्राप्त करता है (स्किनर व विल्सन, 1975)।

इस प्रकार पात्रता के नियमानुसार प्रथम दृष्टया स्थितियों का अधिकार महत्त्वपूर्ण है और यह दावा कर सकता है कि स्थितियों की उनकी वैध आशाएँ पूरी होनी चाहिए।

दूसरी तरफ समतावादी पात्रता के नियम के अनुसार वितरण की विचारधारा का इस आधार पर खण्डन करते हैं कि लोगों में प्रकृति के संयोग या सामाजिक हालातों के आधार पर योग्यताएँ या दक्षताएँ होती हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों के लिए उनकी जिम्मेदारी पर और पात्रता के आधार पर उसके अनुसार ही वितरण में भिन्नता की तर्कसंगतता पर ध्यान देते हैं।

7.4 आवश्यकता का सिद्धान्त

सामाजिक फायदों और विकास के लाभों के वितरण के लिए वितरण का दूसरा सिद्धान्त "आवश्यकता के अनुसार वितरण" का है। लाभों और दायित्वों का वितरण केवल जीवन की शारीरिक आवश्यकताओं के आधार पर तर्कसंगत माना जा सकता है। इस विचारधारा के समर्थकों का तर्क है कि जिन व्यक्तियों की आवश्यकताएँ स्वतंत्र रूप से पूरी नहीं हो सकतीं तो उन्हें दूसरों की संपत्तियों से अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने का अधिकार है। अपने प्रयासों से अपनी मूलभूत आवश्यकताएँ पूरी न कर सकने वाले लोगों की ये आवश्यकताएँ सरकार द्वारा पूरी करने के सिद्धान्त ने हमारे राजनीतिक जीवन को प्रभावित करने वाली निश्चित नैतिक अनिवार्यताओं के रूप में स्थिति धारण कर ली है।

व्यापक रूप में यह विश्वास किया जाता है कि मानव होने के कारण मूलभूत मानव स्वभाव का कम से कम कल्याण प्राप्त करने का एक वैध अधिकार होता है। इसे सम्मान का उप सिद्धान्त या व्यक्ति का एक छोटा मूल्य समझा जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि वितरण केवल भौतिक (शारीरिक) आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि केवल शारीरिक निर्वाह का अधिकार तो प्रकृति की स्थिति में मौजूद रहेगा। आधुनिक कल्याणकारी राज्य से बुनियादी वस्तुओं और सेवाओं के महत्त्वाकांक्षी पुनः वितरण प्रावधानों से अतिरिक्त कुछ अधिक की आशा की जाती है। रॉवल्स जब वह "अंतर सिद्धान्त" की रचना करते हुए कहता है कि यथासंभव न्यूनतम लाभ प्रदान किए जाने चाहिए। दूसरे शब्दों में रॉवल्स का सिद्धान्त न केवल संतुष्ट करने वाला अपितु अधिकतम वाला भी है (रावल्स, 1971)।

क्रोपोट्किन न्याय के आवश्यकतानुसार वितरण विचारधारा का प्रसिद्ध समर्थन करने वालों में से एक है। उसके सिद्धान्त की मुख्य सफाई यह है कि "उत्पादन के साधन मानवता का सामूहिक कार्य होने के कारण उत्पाद भी संपूर्ण जाति की सामूहिक संपत्ति होनी चाहिए। व्यक्तिगत विभाजन न तो न्याय है और न ही व्यवहार्य। सब कुछ सबका है। सभी चीजें सभी व्यक्तियों के लिए हैं क्योंकि सबकों उनकी आवश्यकता है, क्योंकि उनके उत्पादन को बढ़ाने में सबने कार्य किया है, और विश्व सम्पत्ति के उत्पादन में प्रत्येक के हिस्से का मूल्यांकन करना संभव नहीं हैं (क्रोपोट्किन, 1926)।

फिर भी आवश्यकता के सिद्धान्त की इस आधार पर आलोचना की गई है कि यह संपूर्ण अवास्तविक विकल्पों की पूर्व कल्पना कर लेता है। मुख्य विकल्प भौतिक प्रगति या असीमित मानव उदारता है।

स्पेंसर के विचार में आवश्यकता के अनुसार वितरण पुरस्कारों के लिए प्रतिस्पर्धात्मक संघर्ष के लाभदायक परिणामों से समाज को वंचित कर देगा तथा मानव जाति के सुधार को कुंठित कर देगा (डेविड मिलर, 1976)।

7.5 संतुलन का सिद्धान्त

उपरोक्त चर्चा से पता चलता है कि पात्रता और आवश्यकता पर आंधारित वितरण सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं। इन दोनों के बीच एक संतुलन बनाने की आवश्यकता है। लाभों के आबंटन में जब पात्रता मुख्य होता है तो सर्वोत्तम व्यवस्था मिलती है और आवश्यकता की विचारधारा को भी वितरण के उपनियम के रूप में स्थान मिलता है। यह विचारधारा सामान्यतः योग्यता के आधार पर लाभों का आबंटन करने और करों के पुनर्वितरण की नीति के द्वारा अनुपूरण करने एवं सामाजिक व आर्थिक रूप से वंचित नागरिकों के वर्ग के पक्ष में व्यय करने का समर्थन करती है।

आवश्यकता एवं पात्रता दोनों सिद्धान्तों को शामिल करते हुए न्याय वितरण सिद्धान्त की अकेली संकल्पना पर मिल्लर के द्वारा तत्कालीन बाज़ार समूह जिन्हें वह संगठित पूँजीवाद का नाम देता है और पूर्ववर्ती बाज़ार समूह जिन्हें वह मुक्त/स्वतंत्र बाज़ार समूह कहता है, से भिन्न करते हुए काफी कार्य किया है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को संगठन में उच्चतम स्थान दिया गया है तथा उसे अपनी स्थिति के अनुसार पुरस्कार मिलता है। परन्तु व्यक्ति के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए सक्षम व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न लाभों में प्रत्येक व्यक्ति को न्याय का अधिकार है। यह समन्वय रॉल्सियन के सिद्धान्त में भी देखा गया है जब उसका अंतर सिद्धान्त तर्क प्रस्तुत करता है कि अधिकतम लाभ न्यूनतम लाभार्जक को मिलता है।

रॉल्स और मिल्लर की संकल्पनाओं के बीच अंतर यह है कि रॉल्स की संकल्पना लाभ को शुद्ध प्रोत्साहनों के रूप में अच्छे हालातों की उपज मानता है जबकि मिल्लर की संकल्पना अपेक्षित पुरस्कार के रूप में व्याख्या करती है। दोनों संकल्पनाओं में एक और अंतर यह है कि रॉल्स का विश्वास है कि वितरणात्मक न्याय की एक ही संकल्पना सभी प्रकार के समाजों में कार्य कर सकती है जबकि मिल्लर का तर्क है कि सामाजिक न्याय की संकल्पना विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न होती है।

रॉल्स के अनुसार सामाजिक न्याय की विषयवस्तु समाज की बुनियादी संरचना है जो मुख्य सामाजिक परंपराओं के रूप में समझी जाती है जो मौलिक अधिकार और दायित्व आबंटित करती है और सामाजिक सहयोग से लाभों का विभाजन करती है। मुख्य परम्पराओं से मेरा अभिप्राय राजनीतिक संरचना और मुख्य अर्थव्यवस्था और सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं (जो) एक साथ एक योजना के रूप में ली जाती हैं जो व्यक्तियों के अधिकारों और दायित्वों को परिभाषित करती हैं और उनके जीवन – भविष्यों को प्रभावित करती हैं कि वे क्या होने की आशा करते हैं और वे कैसे पूरा करने की आशा करते हैं (रॉल्स 1971, 7)।

प्रायः न्याय को मानव अस्तित्व की दशा और विकास से जोड़ा जाता है (चांडी, 1992)। ऐसा विचार प्रत्येक व्यक्ति के अस्तित्व और विकास के लिए बुनियादी आवश्यकताओं तक पहुँच के लिए सच्चे और न्यायपूर्ण मार्ग को प्रायोजित करता करता है। वितरण न्याय के पात्रता सिद्धान्त, आवश्यकता सिद्धान्त तथा समानता सिद्धान्त को मुख्य संरचनात्मक घटक मानते हुए आइए हम दो दावों की जाँच करें: एक, न्याय के बारे में लोगों के विचार बहुवादी हैं और बहुत बार लोग निर्णय करते हैं कि एक प्रकार के दावों में संतुलन के द्वारा उचित वितरण क्या होता है, दूसरे सामाजिक संदर्भ जिसमें वितरण किया जाना है और अधिक स्पष्ट करें तो निर्णय करने वालों के द्वारा सामाजिक संदर्भ को कैसे अनुभव किया जाता है – यह तथ्य निर्णय करता है कि विकास के लाभों का न्यायपूर्ण एवं समान वितरण करने के लिए सार्थक सिद्धान्त के रूप में कौन सा सिद्धान्त श्रेष्ठ है।

ऐसा करते हुए हम व्यावहारिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण न्याय के बारे में प्रसिद्ध दो पक्षों को समझने का भी प्रयास करते हैं। एक पक्ष विशिष्ट चीजें जैसे आवास या चिकित्सा सुविधा के न्यायपूर्ण वितरण से सम्बन्धित है। ऐसा दिखाई दे सकता है कि लोगों की दोनों परम्पराएँ कि ऐसी वस्तुएँ कैसे वितरित की जाएँ और ऐसी विचारधारा को प्रभावित करने वाली विकसित हुई परम्पराएँ अच्छाई में भिन्न-भिन्न होंगी (वाल्जर, 1983)। इसके बाद कुछ सामान्य संसाधन होते हैं जैसे धन जो किन्हीं विशिष्ट विश्वासों की तत्काल याचना नहीं करते कि इनका कैसे वितरण होना चाहिए।

प्रक्रियात्मक न्याय के बारे में अन्य पक्ष का विश्वास है। वस्तु, विशेष के आबंटन या वितरण का निर्णय करने के लिए उचित प्रक्रिया के रूप में किन-किन चीजों की गणना करती है के बारे में विश्वास। फिर इस तरह के विश्वासों में व्यवहार में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण परम्पराएँ शामिल होती हैं और हमें परिणामों पर ध्यान केन्द्रित करना होता है अर्थात् लोग विभिन्न परिस्थितियों में संसाधनों के कौन-से अंतिम वितरण को न्यायपूर्ण वितरण के रूप में समझेंगे।

जब हम वितरण के मानदण्ड के रूप में त्याग, आवश्यकता और समानता की तुलना करते हैं तो हम पहले दो और तीसरे के बीच एक विरोधी तथ्य पाते हैं। जबकि वितरण को उचित सिद्ध करने के लिए त्याग या आवश्यकता के समर्थन में यह निहित होना चाहिए कि इन विचारों में सकारात्मक नैतिक मूल्य होना चाहिए इसकी तुलना में समानता को सरलता या सुविधा के आधार पर लागू किया जाना चाहिए क्योंकि संसाधनों के समान वितरण को स्थाई न्याय समझा जाता है। यदि हम कई व्यक्तियों के विभिन्न त्यागों या आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सही तरीके से संसाधनों को विभाजित करने का निर्णय करने का प्रयास करें तो हमें कठिनाई हो सकती है।

वैकल्पिक रूप से, यदि हमें यह बताया जाए कि किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कई व्यक्तियों ने विभिन्न प्रकार के योगदान किए हैं लेकिन यह न बताया जाए कि ये योगदान कितने बड़े थे या हमें प्राप्त सूचना में अधिक विश्वास न हो तो हम उपलब्ध के उपयुक्तम वितरण के रूप में समानता को अपना सकते हैं। ठीक इसी प्रकार आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं लेकिन उनकी भिन्नता के बारे में विश्वसनीय सूचना के अभाव में भी यही तर्क लागू होता है।

7.6 छोटे समूहों में वितरण के लिए लोगों की प्राथमिकता को प्रभावित करने वाले कारक

यह देखने के बाद कि न्याय के सिद्धान्त अथवा समान वितरण को इस साक्ष्य के आधार की आवश्यकता क्यों है कि लोग वितरणात्मक न्याय को कैसा समझते हैं। अब हमें इस साक्ष्य को बदलकर लोग वितरणात्मक न्याय को विभिन्न हालातों और स्थितियों में कैसा समझते हैं" आवश्यक कर देना चाहिए। अनुसंधानकर्त्ता इस बारे में रूचि रखते रहे हैं कि छोटे समूहों के वातावरण में या संपूर्ण समाजों में न्याय में वितरण न्याय को कैसा समझते हैं (अर्थात् भारत या संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में आय के वितरण के न्याय में) इसी प्रकार वे न्याय के बारे में विश्वासों से भी सम्बन्धित हैं जिसे लोग न्याय या न्यायसंगत कहेंगे अथवा लोगों के व्यवहार के साथ कहेंगे जब कुछ बहुमूल्य संसाधनों के आबंटन के लिए कहा जाए।

छोटी समूह संरचना में वितरण – जैसे समूह के सदस्यों द्वारा किसी किए गए कार्य के बाद या तो पुरस्कार वितरण के मूल्यांकन के लिए लोगों को कहना या स्वयं ही वितरण करना संभव है। व्यापक समाज के स्तर पर हम विश्वासों के द्वारा जाँच कर सकते हैं जैसे आय के वितरण को विभिन्न क्रम के साथ लोगों को प्रस्तुत करना और उनसे यह पूछना कि वे कितना ठीक समझते हैं और हम संसाधन वितरण में व्यावहारिक रूप से जारी परम्पराओं को देखने से लोगों के व्यवहार की जाँच कर सकते

हैं (उदाहरण के लिए कम्पनियों या फर्मों द्वारा अपने कर्मचारियों के वेतनमान निर्धारित करने के तरीके)।

न्याय के बारे में वास्तव में लोग क्या सोचते हैं यह जानने के लिए प्रत्येक विचारधारा के कुछ सकारात्मक तथा कमज़ोर तथ्य हैं। प्रस्तुत विश्वासों पर ध्यान केन्द्रित करते समय किसी प्रचलित सिद्धान्त के अनुसार व्यावहारिक परिस्थिति में मार्गदर्शन करने वाले क्रियात्मक विश्वासों के विरुद्ध किसी को बनाए रखने का जोखिम रहता है। यदि व्यवहार केन्द्र होता है तो कार्य में मिश्रित प्रेरणाओं की संभावना रहती है जिसमें न्याय के विकृत होने का प्रयास होता है जैसे निजी स्वार्थ। इस प्रकार एक लघु समूह की स्थिति में आबंटनकर्त्ता स्वयं अधिक प्राप्त करने के लिए न्याय को विकृत कर सकता है (या अपने साथियों के साथ उदार नजर आने के लिए न्याय की दिशा बदल सकता है)। फिर किसी उद्योग में वेतनमान प्रायः कर्मचारियों की अधिक या कम दक्षता व दायित्वों के बीच अंतरों का उपयुक्त प्रतिफल समझने के रूप में प्रायः एक समझौते को प्रस्तुत करता है। यह कार्यबल के विभिन्न वर्गों द्वारा नियंत्रित समझौता शक्ति के कारण भी होता है (इलेस्टर, 1989)।

जब हम छोटे समूहों में न्याय और संपूर्ण समाजों में न्याय के बीच तुलना करते हैं तो अनुसंधानकर्त्ता अवांछित प्रभावों को निकाल सकते हैं। परन्तु प्रश्न भी यह उठता है कि छोटे समूहों में सम्बन्धित वितरण निर्णय सामाजिक न्याय के बड़े प्रश्न बन जाते हैं: क्या लोग दो या तीन व्यक्तियों में संसाधनों का आबंटन करने में ठीक वही तरीका अपनाते हैं जैसा वे अनुमान करते हैं, इसे हम पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का न्याय कह सकते हैं" (ब्रिकमैन, 1981)। प्रायः देखा गया है कि व्यक्तियों में वितरण करने में लोग न्याय का एक मानदण्ड लगाते हैं और समग्र वितरण में दूसरा मानदंड होता है (उदाहरण के लिए वह आबंटन जो व्यक्ति की पात्रता के अनुसार है उसे समग्रतः समतावादी आबंटन के रूप में माना जा सकता है) यहाँ पर कुल मिलाकर व्यापक विचारधाराओं को अनिवार्यतः न्याय की विचारधाराएँ नहीं माना जा सकता है, फिर भी उदाहरण के लिए इसमें सामाजिक समानता का एक आदर्श अर्थात् स्वतंत्र न्याय शामिल है। दूसरी तरफ व्यापक न्याय के बारे में विश्वासों पर सीधे ही विचार करने से लोगों के उत्तरों में संदर्भ सम्बन्धित अत्यधिक रुकावटें होने का जोखिम रहता है। उदाहरण के लिए यदि हम लोगों से पूछें कि समाज में आमदनी का आदर्श वितरण कैसे होगा तो उनके उत्तर विद्यमान वितरण के अनुभवों से प्रभावित होंगे या यदि हम उनसे यह पूछें कि लोगों की आवश्यकताएँ पूरी करने में समाज की क्या जिम्मेदारी है तो उनके उत्तर विद्यमान कल्याणकारी परंपराओं के आधार पर होंगे।

लघु स्तर समूह

एक तरफ पात्रता के अनुसार या दूसरी तरफ समानता के अनुसार वितरण के लिए लोगों की प्राथमिकताओं को प्रभावित करने वाले तथ्यों पर सूक्ष्म स्तर पर व्यापक अनुसंधान हुए हैं (लेबंथल, 1976, मिकुला, 1980, टोर्न ब्लोम, 1992)। एक विशेष परिस्थिति में किसी कार्य में संलग्न लोगों ने विभिन्न मात्रा में योगदान किया है और प्रतिफल देने वालों को आय या अन्य पारिश्रमिक आबंटन करने के लिए कहा जाता है या कहा जाए कि उपयुक्त आबंटन के बारे में वे क्या सोचते हैं। कई बार व्यक्तियों को विश्वास दिलाया जाता है कि वे स्वयं उसमें भागीदार हैं; कई बार साधारणतः उनसे बाहरी निर्णय के लिए ही पूछा जाता है।

ये कारक जिस समूहों में वितरण होना है उनके स्वभाव को जानने के माध्यम से संचालन करते नजर आते हैं। इस सीमा तक कि समूह उन अलग-अलग व्यक्तियों से मिलकर बना है जिनके परस्पर सम्बन्ध केवल यांत्रिक ही हैं वहाँ पात्रता नियम लागू किया जाता है। इस सीमा तक कि समूह एकात्मक रूप में बना है तो वितरण की प्राथमिकता समानता सिद्धान्त बन जाता है। सफल निष्पादनकर्त्ताओं को बोनस आबंटन करने के लिए कहने पर लोग दलीय मामले में अधिकतम समानता को चयन करेंगे।

पूर्वधारणा शायद यह है कि संयुक्त गतिविधि मित्रता की मात्रा उत्पन्न करती है जिससे उपयुक्त समानता होती है। जब लोगों को या तो प्रतिस्पर्धात्मक या सहयोगी प्रकृति के कार्य दिए जाते हैं तो भी ऐसे ही परिणाम मिलते हैं (ग्रीफिथ व सैल्ल, 1980)। इसके अतिरिक्त यह भी सहयोगात्मक रूप से कार्य करने के अनुभवों से देखा जा सकता है कि जो लोग मूलतः योगदान सिद्धान्त का समर्थन करते हैं वे समानता का अधिक समर्थन करने की प्रवृत्ति रखते हैं (डेयूटस्केट, 1985)। इसमें एक बुनियादी विश्वास है कि उपयुक्तता के लिए वितरण का आकार प्रत्येक व्यक्ति के प्रयास पर निर्भर करता है जिन लोगों ने कम प्रयास किया है उन्हें कम प्रतिफल मिलना चाहिए (क्येसर लाम्म, 1981)।

दो और कारक वितरण के लिए पात्रता सिद्धान्त से स्थानांतरित होकर समानता के सिद्धान्त की तरफ जाने में सहायता करते हैं। एक समूह के बारे में प्रत्याशा है की उसका अस्तित्व कब तक रहेगा। अस्थाई समूहों में योगदान सिद्धान्त का समर्थन करने की प्रवृत्ति होती है जबकि भविष्य में संपर्क बनाए रखने की आशा वाले लोगों में समानता की तरफ व्यवस्थित होने की प्रवृत्ति होती है (मिकुला, 1975)। दूसरा समूह में चर्चा करता है, जिन समूहों में स्वयं के लिए निर्णय करने की छूट होती है कि वे वितरण का कौन-सा सिद्धान्त अपनाएँगे तो वे समानता का पक्ष लेते हैं।

यह भी देखा गया है कि समूहों में परस्पर प्रतिस्पर्धा या यांत्रिक सम्बन्ध वाले अलग-अलग व्यक्तियों से निर्मित समूहों तथा एक समान पहचान वाले और एकात्मकता की भावना वाले समूहों के बीच एक आधारभूत विरोध रहता है। पहले प्रकार के समूहों के लिए न्याय होता है जब प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किए गए योगदान के अनुपात में प्रतिफल प्राप्त होता है। जबकि दूसरे प्रकार के समूहों में तुलना के द्वारा किसी भी निवेश के बावजूद समान वितरण को उपयुक्त मानते हैं। फिर भी, यह स्पष्ट नहीं है कि क्या स्वभावतः ही समानता महत्त्वपूर्ण है या आवश्यकता के अनुसार वितरण के लिए इसका प्रतिनिधित्व के रूप में उपयोग किया जाता है। प्रायः इसका विपरीत रोचक परिणाम भी है जैसे जब विशिष्ट समूह उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उनमें सर्वाधिक संभावित वितरण सिद्धान्त चुनने के लिए कहा जाए तो दक्षता, उत्पादकता और ऐसे अन्य चीजें बढ़ाने के निर्देश प्राप्त लोग योगदान सिद्धान्त का सुझाव देंगे जबकि समूह सामंजस्य, अच्छे कार्य सम्बन्ध बढ़ाने की आवश्यकता वाले लोग समानता सिद्धान्त को अपनाएँगे (लिंवथल, 1976)। इस प्रकार चयनित वितरण सिद्धान्त न केवल समूह वे स्वभाव को प्रकट करते हैं अपितु भविष्य के लिए सम्बन्धों की भी रचना करता है।

इस प्रकार अब तक हमने प्रयुक्त किए जा रहे पात्रता के गहन आधारों को विनिर्दिष्ट किए बिना पात्रता समानता पसंद को प्रभावित करने वाले कारकों की जानकारी ली है। फिर भी, कुछ प्रायोगिक अध्ययनों ने प्रतिफल प्राप्त करने के लिए योगदान के पक्ष या पक्षों को अलग करने का प्रयास किया है (लिवंथल व माइकेल्स, 1971)। प्रायः कार्य निष्पादन् में प्रयुक्त योग्यताओं या क्षमताओं, किए गए प्रयास तथा स्वयं दक्षता का संकेत करते हुए और उत्पादित या प्राप्त वास्तविक मात्रा का संकेत करते हुए योग्यताओं में अंतर किया जाता है।

पात्रता के विषय पर इन आनुभाविक निष्कर्षों की राजनीतिक विद्वानों के प्रचलित विचारों से तुलना करना काफी रोचक है। विद्वानों का यह सामान्य विचार है कि लोग केवल उचित गुणों जैसे स्वयं के नियंत्रणाधीन प्रयास के आधार पर ही उपयुक्त रूप से पाने के पात्र होते हैं। इसकी वैकल्पिक स्थिति भी है यद्यपि लोगों को पात्रता प्राप्ति के लिए अपने निष्पादन के प्रति आवश्यक रूप से उत्तरदायी होना चाहिए। निष्पादन जो पात्रता का आधार बनता है के लिए स्वभाविक योग्यता और स्वेच्छया से न मिलने वाले अवसरों जैसे व्यक्तिगत विशेषताओं की आवश्यकता होती है।

7.7 संसाधनों का समाज में व्यापक वितरण करने के लिए लोगों की प्राथमिकताओं को प्रभावित करने वाले कारक

इस बिन्दु तक हम छोटे समूहों में पात्रता और समानता के प्रति धारणाओं पर विचार कर चुके हैं। आइए, अब देखें कि जब लोगों के संसाधनों के समाज में व्यापक वितरणों के उपयुक्त निर्णय करने के लिए कहा जाए तो चीजें महत्त्वपूर्ण रूप से कैसे बदल जाती हैं? ऐसे मामलों में हमें विश्वासों का वही स्वरूप मिलता है जिसमें योगदान के अनुसार प्रतिफल की प्राप्ति का सिद्धान्त मुख्य होता है लेकिन कुछ अंशों में समानतावादी सिद्धान्त से संतुलित कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, जब लोगों से "प्रत्येक व्यक्ति को समान हिस्से में आय और धन का वितरण किया जाना है इसके उपयुक्ततम प्रस्ताव पर "अपनी प्रतिक्रिया देने के लिए कहा जाता है तो हम एक-तिहाई लोगों को इसी से सहमत पाते हैं। जब लोगों से उचित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत सभी लोग लगभग एक समान धन कमाएँगे तथा एक उचित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत अधिक योग्यता वाले व्यक्ति अधिक वेतन प्राप्त करेंगे इन दो कथनों में से एक कथन काबलात् चयन करने के लिए कहा जाए तो बहुत कम लोग समानता वाले कथन का चयन करेंगे (मैकक्लोस्की व जैलर, 1984)।

उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में हुए एक सर्वेक्षण में 95 प्रतिशत लोग इस प्रस्ताव से सहमत थे कि "जो लोग अधिक परिश्रम करते हैं वे परिश्रम न करने वालों की तुलना में अधिक आय के पात्र हैं। और 84 प्रतिशत इस पर सहमत थे कि जब तक लोगों को अधिक अदायगी नहीं की जाएगी वे कार्य में अतिरिक्त जिम्मेदारी नहीं लेंगे (स्विफ्ट, मार्मल व बर्जोयन, 1992)। इसी प्रकार के प्रश्न दायित्व देने तथा व्यावसायिक दक्षता प्राप्त करने की आवश्यकता के बारे में भी अन्तर्राष्ट्रीय सर्वेक्षण कार्यक्रम में पूछे गए थे जिसमें प्रतीकात्मक सहमति दर 70 और 80 प्रतिशत के बीच थी। एक स्वदेशी सर्वेक्षण में 75 प्रतिशत प्रतिदर्श दायित्व प्रस्ताव से सहमत थे (सवेलफोर्स, 1993)। एक अमरीकी अध्ययन में 78 प्रतिशत उत्तरदाता सहमत थे कि "एक उचित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत अधिक योग्यता वाले व्यक्ति अधिक वेतन प्राप्त करेंगे और 85 प्रतिशत ने पुष्टि की कि किसी भी प्रकार के कार्य करने के बावजूद सबको लगभग एक समान आय प्रदान करने से अधिक परिश्रम करने और बेहतर कार्य करने की इच्छा समाप्त हो जाएगी।"

ऊपर संदर्भित तीसरी और चौथी विचारधाराएँ उन प्रस्तावों का प्रतिनिधित्व करती हैं जैसे यदि आमदनी अधिक समान होगी तो जीवन अधिक नीरस होगा क्योंकि सभी लोग एक जैसा जीवनयापन करेंगे (61 प्रतिशत सहमत तथा 39 प्रतिशत असहमत) और आय को एक समान नहीं बनाया जा सकता क्योंकि दूसरों से अधिक आय प्राप्त करना मानव का स्वभाव होता है (82 प्रतिशत सहमत तथा 18 प्रतिशत असहमत) (कुलूजेल व स्मिथ, 1986)। इन उत्तरों से स्पष्ट है कि सभी देशों में अधिसंख्य लोग आर्थिक असमानता के प्रति समर्थक प्रवृत्ति रखते हैं क्योंकि यह प्रतिफल प्रदान करती है और लोगों को प्रेरित करती है तथा निपुणता और प्रशिक्षण को मान्यता प्रदान करती है।

समान वितरण की प्रक्रियाओं का एक और पक्ष लाभों के आर्थिक वितरण में सर्वरूपेण न्याय की समानता की प्रवृत्ति है। "यह प्रवृत्ति अपने आपको दो मुख्य प्रकार से व्यक्त करती हैः प्रथम, इस विचार को कि आय और लाभों का वर्तमान प्रसार बहुत अधिक है, तथा उचित वितरण इस प्रभाव को कुछ कम करेगा; द्वितीय, यह कि आय के सबसे निचले सोपान पर बैठे लोग जीवनयापन योग्य मजदूरी भी नहीं पा रहे", यानि एक अच्छे जीवन स्तर को बनाए रखने के लिए पर्याप्त मजदूरी।

विकासात्मक लाभों के वितरण में सभी को समान लाभों की एक संतुलित मात्रा कसौटी का परित्याग करके चकनाचूर नहीं कर सकती अपितु ऐसी स्थिति में उन्हें लागू करके जहाँ आर्थिक या सामाजिक व्यवस्था, विभिन्न व्यावसायिक वर्गों में अधिक या कम प्रतिफल से हो सकती है। परन्तु यहाँ इस तर्क

में एक और छिद्र है जो तब दिखाई देता है जब जनता को, विकास के लाभों के समान वितरण के अर्थों में समानता के संभावित लाभों के बारे में, पूछा जाता है। इस प्रकार का प्रस्ताव बहुमत की सहमति को आकर्षित करने के लिए है कि "आय की अधिक समानता विभिन्न स्तरों पर जनता के बीच सामाजिक विवादों को कम करेगी"।

अब हम असमानता, अभावों तथा कम आय के प्रश्न की तरफ आते हैं। यह एक सामान्य विचार है कि आय के निचले स्तर पर लोगों को किसी प्रकार से प्राप्त करने से रोका जाता है जिसके वे हकदार हैं। उदाहरणार्थ, यह उक्ति "यदि मौका दिया जाए तो अधिकतर लोग जो गरीब और जरूरतमंद हैं, समाज को कुछ बहुमूल्य सहयोग दे सकते हैं।" भारी बहुमत दर्शाती है (78 प्रतिशत पक्ष में, तथा 7 प्रतिशत विपक्ष में) (मैक्लासकी तथा जैलर)।

जाँच का परिणाम

इस जाँच का हम इस प्रकार समाहार कर सकते हैं, जहाँ आवश्यकताएँ दाँव पर हैं, लोग अप्राप्य आवश्यकताओं की मात्रा को समान करने की ओर अग्रसर होंगे, जिसका अर्थ है जिन्हें अधिक आवश्यकता है उनके पक्ष में वितरण करना जब तक कि दूसरों के स्तर तक उनको न ले जाया जाए; जहाँ रूचियाँ दाँव पर हैं, वे उन व्यक्तियों के पक्ष में अत्यधिक झुके हुए हैं, जो कल्याण की समानता की कीमत पर सम्बन्धित मदों से, अधिकतम उपयोगिता को खोज सकता है।

सूक्ष्म संदर्भों में जैसा हमने देखा है, जब भी उन्हें अवसर दिया जाए, लोग आवश्यकतानुसार बाँटने को इच्छुक रहते हैं; वे आवश्यकताओं और रूचियों अथवा प्राथमिकताओं के बीच अंतर कर सकते हैं; यहाँ इस कल्पना के समर्थन में भी कुछ ठोस प्रमाण हैं कि इस वितरण सिद्धान्त के समूह के सर्वाधिक हितकर को उच्च स्तर के आपसी सहानुभूति और विश्वास के रूप में चित्रण किया जा सकता है।

यदि यह व्याख्या ठीक है, लोग अंशतः न्याय के कारण तथा अंशतः उदारता व मानवता के कारण, आवश्यकताओं के आधार पर वितरण करते हैं। फिर भी दो निषेध तुरंत जोड़ देने चाहिए। पहला, समर्थन या राज्य प्रबंध इस विश्वास के साथ संगत होते हैं कि लोग पेंशन, स्वास्थ्य सुरक्षा, शिक्षा आदि के लिए निजी प्रबंध करने में समर्थ होने चाहिए (टेलर एवं गूबी, 1985)। दूसरा, लोगों की, इस बारे में गहन सरोकार की प्रवृत्ति होनी चाहिए कि जरूरतमंद को उसकी जरूरतों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जाना चाहिए, या तो इस अर्थ में कि उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को स्वयं उत्पन्न किया है, या इस अर्थ में कि थोड़े से प्रयास से उनसे मुक्त हुआ जा सकता था।

समाज कल्याण कार्यक्रमों के बारे में संशय के पीछे यह चिंता है, जो स्वयं इस विचार को प्रकट करती है कि कुछ लोगों के पास केवल उनकी स्वयं की सुस्ती अथवा लापरवाही के कारण, जरूरतमंदों के पास अत्यधिक धन जा रहा है (ज़ैफ़े; 1978)।

प्रश्न है कि आवश्यकता किसे समझना चाहिए? वृद्धावस्था, अपंगता तथा बीमारी के मामले विवाद से परे हैं, परन्तु क्या आवश्यकता का विस्तार अन्य तत्वों तक किया जा सकता है जिनका शारीरिक आधार से कम सम्बन्ध हो? भारतीय संदर्भ में जाति आधारित समाज, शैक्षणिक तथा आर्थिक पिछड़ापन भी आवश्यकता के साथ-साथ गुणाधारित वितरण का आधार बन गया है।

अभी तक हम देख रहे थे कि लोग किस प्रकार गुण, आवश्यकता तथा समानता के बीच परिवर्तन करते हैं जब उनसे विभिन्न संदर्भों में उचित वितरण के बारे में पूछते हैं और यह भी देखते हैं कि एक-दूसरे के सिद्धान्तों के विपरीत वे किस प्रकार संतुलन रखते हैं, जब, मान लो, किसी विशेष निर्णय से सम्बन्धित गुणों तथा आवश्यकताओं पर विचार किया जाता है (इलियट एवं मीकर, 1986)। समता और न्याय की लोकप्रिय अवधारणाएँ इन दोनों अर्थों में बहुलवादी सिद्ध होती हैं: कोई एक सिद्धान्त ऐसा दिखाई नहीं देता जिसको सब लोग ग्रहण करने का निर्णय ले सकें या वितरण की प्रक्रिया अपना सकें।

अभी हाल ही में नार्मन फ्रोलिक तथा जो ऑपनहेमेर ने प्रयोगों की एक श्रृंखला प्रारंभ की थी जिसमें, जनता इस बात से अनभिज्ञ थी कि संभवतः प्रतिफल अनुसूची में उनका स्थान है, उससे कहा गया कि आय के वितरण के लिए चार वैकल्पिक सिद्धान्तों में से कोई एक चुनना है। प्रयोग के परिणाम ने न्याय के बारे में विश्वास ने बहुलवाद की पुष्टि की। उनके प्रयोगों में, व्यक्ति एक तरफ इस बात के लिए चिंतित थे कि कोई भी गरीबी में नहीं रहता; दूसरी तरफ वे सुनिश्चित करना चाहते थे कि योग्य और मेहनती को अच्छा प्रतिफल लेने के लिए अवसर मिलना चाहिए। अंतर के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया गया क्योंकि पहला सरोकार दूसरे को पूरी तरह छोड़ देता है (फ्रॉलिक और एवी)।

एडम स्विफ्ट – समानता सूचकांक

इसी प्रकार एडम स्विफ्ट तथा उसके सहयोगियों ने निम्नलिखित तीन मुद्दों से एक समानता के सूचकांक की एक रचना की :

1) "सम्पदा और आय उपयुक्ततम मार्ग होगा सबको समान हिस्सा देना।"

2) "यह सौभाग्य मात्र है कि कुछ लोग दूसरों से अधिक बुद्धिमान अथवा कुशल होते हैं, इसलिए वे अधिक धन कमाने के अधिकारी नहीं हैं।"

3) "सरकार को धन की मात्रा की ऊपरी सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए जिसे कोई भी प्राप्त कर सकता है।"

उन्होंने ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा पश्चिम जर्मनी के आँकड़ों का परीक्षण किया। जर्मनी में समानता में विश्वास का वर्ग पर प्रभाव मामूली था। ब्रिटेन में एक महत्त्वपूर्ण परस्पर सम्बन्ध देखा जा सकता है जब शैक्षणिक स्तर तथा वर्गों को मिला दिया जाता है, तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में अकेले वर्ग का ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव है (स्विफ्ट, मार्शल तथा बर्गोयने)। वे भारत में आँकड़े प्राप्त नहीं कर सके।

इस प्रकार सम्पदा और गरीबी की व्याख्या में महत्त्वपूर्ण वर्ग भेद हैं : वे जो संपन्न हैं, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के अर्थों में व्याख्याओं को वरीयता देते हैं, जबकि वे जो विपन्न हैं असमान अवसरों जैसे ढाँचागत लक्षणों को इंगित करते हैं (रायटीना फॉर्म और पीज़, 1970)।

इन मतभेदों का वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओं तथा विकासात्मक लाभों के समान वितरण का जनता के विचारों पर कुप्रभाव पड़ता है।

यह भी संकेत मिलता है कि इस प्रकार के विश्वास, इस अर्थ में कि वे सामाजिक लाभों के वर्तमान वितरण को केवल प्रतिबिम्बित करते हैं, काफी हद तक अनुकूली हैं। जनता, समाज द्वारा अपने संसाधनों के वितरण के तरीके के निर्धारण को स्वतंत्र रूप से आधारभूत सिद्धान्तों का उपयोग नहीं करती; अपितु उनका विश्वास इस प्रकार ढल जाता है कि वे विश्वास करने लगते हैं कि वितरण अनुचित समझा जाता है यदि विचाराधीन समाज में लाभों का वितरण सामान्य तरीके से न किया गया हो।

अब तक हुई चर्चा से, हम समान वितरण और न्याय की लोकप्रिय अवधारणाओं के बारे में कई निष्कर्ष निकाल सकते हैं। पहला, लोग सामाजिक न्याय की स्वयं की धारणा के साथ अपने को, परिपूर्ण समझते हैं: वे वर्तमान सामाजिक न्याय व्यवस्था में वितरणात्मक न्याय की कसौटी को लागू करने के लिए तैयार हैं, तथा विस्तृत अर्थों में यह करने को तैयार है कि न्यायपूर्ण समाज किस प्रकार दिखाई देगा यद्यपि उपलब्धियों की संभावनाओं के बारे में वे शंकित हैं।

दूसरा, लोगों का विचार वितरणात्मक न्याय के बारे में इस अर्थ में बहुलतावादी है कि वे न्याय की विभिन्न कसौटियों को मान्यता प्रदान करते हैं: विषय के अनुरूप उनसे समाधान करने का कहा जाता है, वे या तो न्याय की परिभाषा निर्धारित करने के लिए किसी एक कसौटी को लागू कर सकते हैं,

अथवा दो या उससे अधिक हों तो समाधान के समझौते पर विचार कर सकते हैं। उनका विचार भी प्रसंगाश्रित है, जिसका अर्थ है कि वांछित कसौटी या कसौटियों में सामाजिक पृष्ठभूमि के अनुसार अन्तर होगा जिसके लिए वितरणात्मक निर्णय लिया गया है विशेषकर वर्ग का चरित्र जिसके अंदर वितरण होगा।

तीसरा, इस विचार में पात्रता तथा आवश्यकता की कसौटियाँ प्रमुख रूप से लक्षित होती हैं। पात्रता के मामले में, हम देखते हैं कि लोगों को प्रोत्साहन या मुआवजा देने की आवश्यकता तथा विभिन्नता को स्वीकार करने के विश्वास से, पात्र को लाभ देने के विश्वास को मुक्त करना प्रायः कठिन होता है। हम इस बारे में भी कुछ अनिश्चितता देखते हैं कि उन मामलों में पात्रता का उचित आधार क्या होना चाहिए जिनमें उनके समग्र कार्य से लोगों के आचरण के स्वैच्छिक पहलुओं को अलग करना संभव है।

आवश्यकता के मामले में, यह स्पष्ट है कि लोग आवश्यकता के वास्तविक दावों तथा मात्र इच्छाओं अथवा रूचियों के बीच एक महत्त्वपूर्ण भेद देखते हैं। हम सहमति की एक तर्कसंगत सीमा देख सकते हैं। उदाहरण के लिए, वर्तमान उपयोग की किन मदों को आवश्यकताएँ माना जा सकता है। जब लोग सामाजिक स्तर पर आवश्यकता के बारे में सोचते हैं, वे इसके बजाय कि समाज के सभी संसाधनों पर दावा किया जाए। इसे निम्नतम या आधारभूत सीमा के रूप में देखते हैं, जिससे नीचे किसी को नहीं जाने देना चाहिए।

आवश्यकता तथा पात्रता के बाद तीसरा सिद्धान्त समानता है। वितरणात्मक न्याय के लोकप्रिय विचार में इसकी भूमिका सरल नहीं है। कभी-कभी समानता सरलता के आधार पर अथवा लोगों की भिन्न पात्रता या आवश्यकता के बारे में प्रमाणों के अभाव में हितकर दिखाई देती है। परन्तु हमने यह भी पाया है कि सामाजिक वितरण के बारे में लोगों के चिंतन में, वर्तमान में स्थित उदार लोकतंत्रों की अपेक्षा समानता का पक्ष अधिक है। इसे अंशतः पात्रता तथा आवश्यकता पर विचार करके स्पष्ट करना होगा; लोग वर्तमान में पात्रता के लिए मानी गई आय की असमानताओं की मात्रा को अस्वीकार करते हैं, तथा नीचे के स्तर तक वे यह भी सोचते हैं कि अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं कमा पाना अनुचित है। कम से कम कुछ लोग तो यह विचार रखते हैं कि आधुनिक समाजों का जीवन स्तर सुधरेगा यदि अमीरों और गरीबों के मतभेदों को कम किया जा सके।

इस सीमा तक हम कह सकते हैं कि समाज ठीक हैं कि उनके मुख्य संस्थान आवश्यकताओं, पात्रता तथा समानता के सिद्धान्तों के अनुरूप हैं – सिद्धान्त जो व्यक्तिगत सदस्यों के लाभदायक और हानिकारक निर्धारण को इस प्रकार परिभाषित करता है जो अंततः विकास के लाभों के सहमति जन्य समान वितरण पर आधारित समानतावादी समाज की ओर प्रशस्त होता है।

भारतीय परिदृश्य

स्वतंत्र भारत ने कृषि, उद्योग तथा मानव संसाधन के योजनाबद्ध विकास के आधार पर औपनिवेशिक अल्प विकास से अपने आपको बाहर निकाल लिया है। यह महानगरीय स्वार्थों की अधीनता से मुक्त भारत के स्वायत्त विकास की आवश्यकताओं के समग्र विश्लेषण तथा मूल्यांकन के साथ ही गरीबी मिटाने तथा समता और सामाजिक न्याय को समर्थन देने पर आधारित होगा। इसके लिए वर्तमान संसाधनों का अधिकतम उपयोग वांछनीय है। इसके अतिरिक्त, मानव तथा पूँजी संसाधनों में वृद्धि करने की आवश्यकता है क्योंकि भारत के सामने केवल वस्तुओं का उत्पादन और सेवाएँ बढ़ाने के अर्थों में आर्थिक विकास नहीं है, हमको गरीबी हटाने, अवसर की समानता तथा सभी मूलभूत सेवाओं की प्रदानता पर विशेष ज़ोर देकर सामाजिक न्याय के सभी तत्वों समेत वितरणात्मक न्याय की प्रणाली को भी सुनिश्चित करना है।

योजना के चार दशक यह दर्शाते हैं कि भारत की अर्थव्यवस्था सार्वजनिक और निजी उद्यमों का मिश्रण है काफी बड़ी और विविधतापूर्ण है जो नीति निर्धारकों योजना अधिकारियों के निर्देशों के प्रति पूर्णतः पूर्वानुमेय या अनुकूल होने योग्य नहीं है। वास्तविक परिणाम सामान्यतः योजना लक्ष्यों से महत्त्वपूर्ण विषयों पर भिन्न होते हैं। मुख्य कमियों में आय वितरण में अपर्याप्त सुधार और गरीबी में कमी, कई सार्वजनिक क्षेत्र की परियोजनाओं का देरी से पूरा होना तथा बढ़ी हुई लागत तथा कई सार्वजनिक क्षेत्र के निवेशों से बहुत कम प्रतिफल सम्मिलित हैं। यद्यपि योजनाएँ अपेक्षा से कम प्रभावी सिद्ध हुईं, इनसे निवेश प्राथमिकताओं, नीति अनुशंसाओं तथा वित्तीय संग्रहण हेतु मार्गदर्शन मिला।

परिणामस्वरूप विकास के प्रति सरकार के रवैये में परिवर्तन हुआ है (ए केस स्टडी रिपोर्ट, द्वितीय, ए.आर.सी, 2006)। नागरिकों के जीवन स्तर में सुधार के लिए सामान्य समृद्धि को बढ़ाने पर निर्भर रहने के स्थान पर मूलभूत अर्हताओं के रूप में शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार, पोषण के निम्नतम स्तर को प्राप्त करने पर विचार करने तथा देश में प्रत्येक जरूरतमंद नागरिक को इन्हें उपलब्ध कराने में राज्य की मुख्य भूमिका को मान्यता प्रदान करने का प्रस्ताव है।

संतुलित विकास को बढ़ाने पर अतिरिक्त बल दिया जाता है जिसमें देश में सभी क्षेत्रों को समान रूप से विकास करने का अवसर मिलता है। इस समता-वर्द्धन भूमिका की माँग है कि पिछड़े क्षेत्रों में अधिक संसाधनों का वितरण किया जाए ताकि मूलभूत सेवाओं तथा मानव विकास के उपबंधों के बीच के अंतर को मिटाया जा सके। परिणामस्वरूप, एक बड़े निवेश का प्रवाह देश के उन जिलों की तरफ होगा जिन्हें पिछड़ा घोषित किया गया है। यह मान्य है कि कमज़ोर शासनिक ढाँचे, कम सांगठनिक क्षमता, कमज़ोर आधारभूत संरचना तथा असमान शक्ति संतुलन के कारण विकास कार्यक्रमों को लागू करने हेतु ये जिले सबसे दुष्कर हैं। यदि इन पिछड़े क्षेत्रों में कार्यक्रमों को लागू करने में किंचित मात्र भी सफलता मिलती है तो देश के निर्धनतम क्षेत्र में भी विकास की मुख्यधारा होगी।

ग्यारहवीं योजना के पूर्व में भारतीय अर्थव्यवस्था कुछ वर्षों पहले की तुलना में अधिक मज़बूती की स्थिति में है (*टूवडर्स फास्टर एण्ड मोर इन्क्लूसिव ग्रोथ – एन एप्रोच टू द इलैवन्थ फाइव यीअर प्लान* (ड्राफ्ट), योजना आयोग, 2006)। परन्तु हमारी जनसंख्या के एक बड़े भाग को अपने जीवन स्तर में सुधार के एक निर्णायक अनुभव से गुजरना है। काफी लोग अभी भी स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वच्छ जंल तथा स्वच्छता जैसी मूलभूत सुविधाओं की पहुँच से दूर हैं जिसके बिना वे अपने को सशक्त नहीं कर सकते यहाँ तक कि विकास के लाभों में अपने हिस्से का दावा नहीं कर सकते। इन आवश्यक जनसुविधाओं का कल्याण कार्य पर न केवल सीधा प्रभाव है, ये भविष्य के लिए अवसरों को निर्धारित करती हैं क्योंकि ये महत्त्वपूर्ण तत्व हैं जो लम्बी अवधि में संभावित वृद्धि का निर्धारण करते हैं।

7.8 सारांश

लाभों का सभी को समान वितरण किसी देश के संपोषणीय विकास के लिए मूलभूत आवश्यकता है। ऐसी प्रक्रियाओं की जाँच-पड़ताल करने की आवश्यकता है जिनके द्वारा वृद्धि और विकास का लाभ भारत की आम जनता तक पहुँच सके। पिछले भागों में की गई सैद्धान्तिक व प्रयोगात्मक चर्चा ने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपनाए जाने वाले साधनों की जानकारी उपलब्ध कराई। विभिन्न संगठन भी इस दिशा में कार्य कर रहे हैं। सरकार भी तकनीकी-मुक्त शिक्षा के लाभों को ग्रामीण क्षेत्रों तक लाने के लिए मार्ग खोज रही है ताकि सुस्पष्ट डिजीटल विभाजन को पाटा जा सके। यह सब उन्नत मानव विकास सूचकांक के साथ प्रगति को जोड़ने के लिए आवश्यक है।

7.9 मुख्य अवधारणाएँ

निर्भरता का सिद्धान्त (Dependency Theory) : निर्भरता का सिद्धान्त, तीसरे विश्व तथा प्रथम विश्व, दोनों के विभिन्न विद्वानों के, समाज विज्ञान के सिद्धान्तों का प्रमुख तत्व है, जो विश्व विचार प्रतिपादित करता है एवं सुझाव देता है कि संपन्न बने रहने के लिए संपन्न राष्ट्रों को गरीब राष्ट्रों के बाह्य वर्ग की आवश्यकता है।

निर्भरता का सिद्धान्त, सबसे पहले 1950 के दशक में प्रतिपादित हुआ, रौल प्रैबिश ने इसका समर्थन किया जिसके अनुसंधान में यह पाया गया कि जब अमीर देशों की संपदा बढ़ती है तो गरीब देशों की संपदा कमी को प्रवृत्त होती है। यह सिद्धान्त तुरंत दो विपरीत विचारधाराओं में विभाजित हो जाता है। कुछ प्रमुख रूप से आंद्रे गुंडेर फ्रैंक ने इसे मार्क्सवाद के रूप में रूपांतरित कर दिया। "मानक" निर्भरता के सिद्धान्त के मार्क्सवाद के सिद्धान्त से गहरे मतभेद हैं, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद तथा औद्योगिकीकरण एवं मुक्त क्रान्ति की ओर अल्प विकसित देशों में विकास की किसी आशा के विरुद्ध तर्क देता है। ब्राजील के पूर्व राष्ट्रपति फरनेंडो हैनरिक कार्डोसो ने अपने राजनीतिक निर्वासन के दौरान निर्भरता के सिद्धान्त पर विस्तार से लिखा है। अमरीकी समाजविज्ञानी इमैनुअल वालरस्टेन ने सिद्धान्त के मार्क्सवादी पक्ष में सुधार किया है, तथा इसे "विश्व व्यवस्था" का नाम दिया है।

मानव विकास का सूचकांक (The Human Development Index; HDI) : मानव विकास सूचकांक अखिल विश्व के लिए जीवन आयु, साक्षरता, शिक्षा तथा जीवन स्तर के तुलनात्मक मापदण्ड हैं। यह कल्याण कार्यों, विशेषकर शिशु कल्याण को मापने का एक साधन है। इसे यह अन्तर बताने के लिए उपयोग किया जाता है कि कोई देश विकसित, विकासशील अथवा अल्प विकसित है, तथा जीवन स्तर पर आर्थिक नीतियों के प्रभाव को आँकने के लिए भी। इस सूचकांक को 1990 में पाकिस्तानी अर्थशास्त्री महबूब उल हक द्वारा विकसित किया गया था, तथा संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रमों में इसकी वार्षिक विकास रिपोर्ट में 1993 से उपयोग किया जा रहा है।

मानव विकास सूचकांक किसी देश में मानव विकास के तीन मूलभूत आयामों में औसत उपलब्धियों को आँकता है।

- जन्म के समय जीवन आयु द्वारा आँका गया एक लम्बा और स्वस्थ जीवन।
- ज्ञान, जैसा वयस्क साक्षरता दर (2/3 मात्रा से युक्त) और संयुक्त प्राथमिक, द्वितीयक तथा तृतीयक नामांकन अनुपात द्वारा आँका जाता है (एक तिहाई मात्रा से प्रयुक्त)।

- एक समुचित जीवन स्तर जिसे, अमरीकी डॉलर में, क्रय शक्ति समरूपता हेतु सकल घरेलू उत्पाद प्रति व्यक्ति द्वारा आँका जाता है।

प्रति वर्ष संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देश इन मानदण्डों के आधार पर सूचित और श्रेणीबद्ध किए जाते हैं। वे जो सूची में ऊँचे स्थान पर हैं कभी-कभी इसको विज्ञापित करते हैं (जैसे जीन क्रैटियन, कनाडा के पूर्व प्रधानमंत्री), ताकि अप्रवासियों (आर्थिक रूप से व्यक्तिगत पूँजी) को आकर्षित किया जा सके और उत्प्रवास को हतोत्साहित किया जा सके।

सतत् विकास (Sustainable Development) : सतत् विकास एक शब्द है जिसका प्रयोग आर्थिक प्रगति को उत्पन्न करने के तरीकों को बताने के लिए किया जाता है जो पर्यावरण को बचाने, गरीबी हटाने के लिए किया जाता है, तथा प्राकृतिक पूँजी को लम्बी अवधि में विकास की कीमत पर छोटी अवधि में विकास को नष्ट नहीं करता।

यद्यपि पिछले कई वर्षों में इस शब्द की कई परिभाषाएँ गढ़ी गई हैं, परन्तु सबसे अधिक प्रचलित परिभाषा *अॅवर कॉमन फ्यूचर (Our Common Future)* से ली गई है, जो ब्रटलैण्ड रिपोर्ट के नाम से प्रचलित है, जो यह बताती है कि सतत् विकास वह विकास है जो "भविष्य की पीढ़ियों द्वारा उनकी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने की योग्यता के साथ समझौता न करते हुए वर्तमान की आवश्यकताओं को पूरा करता है।"

मुक्त बाज़ार समाज (Free Market Society) : एक "मुक्त बाज़ार समाज" का वर्णन इस प्रकार किया जाता है कि, वे उद्यमी जो अपनी फर्म का प्रबंधन स्वयं करते हैं तथा श्रम बाज़ार की स्थिति के अनुसार स्वतंत्र श्रमिकों से व्यक्तिगत अनुबंध करते हैं। इन समाजों में प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र समझा जाता है, दूसरी तरफ संगठित पूँजीवाद बड़े उद्यमों के उदय, औसत आकार की कम्पनियों में वृद्धि, विशाल फर्मों के उदय तथा ट्रेड यूनियन आंदोलन के विस्तार तथा मज़बूती से चिह्नित होते हैं। संगठित पूँजीवाद ने ट्रेड यूनियन और बड़ी कम्पनियों के बीच सामूहिक सौदाबाजी को स्थानांतरित कर दिया है। इस प्रकार के समाजों में, प्रत्येक व्यक्ति को कार्पोरेट ग्रुप के हिस्से के रूप में देखा जाता है जो मिलकर समाज को वस्तुओं और सेवाओं का संभरण करते हैं।

7.10 संदर्भ व अन्य लेख

स्किनर एवं विल्सन, 1975, *एसेज़ ऑन एड्म स्मिथ*, क्लैरेन्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड।

मिलर, डेविड, 1976, *सोशल जस्टिस*, क्लैरेन्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड।

मिलर, डेविड, 1999, *प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल जस्टिस*, हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

वाल्ज़र, एम., 1983, स्फियर ऑफ जस्टिस : ए डिफेन्स ऑफ प्लुरिज्म एंड इक्वलिटी, मार्टिन रोबर्टसन, ऑक्सफोर्ड।

रावेल्स, ए., 1971, *ए थ्योरी ऑफ जस्टिस,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड।

इलेस्टर, जे., 1992, *लोकल जस्टिस : होम इंस्टीट्यूशन्स एलोकेट सस्कार्स गुड्स एंड नसेसिरी बर्डन्स,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

इलेस्टर, जे., 1989, *द सीमेन्ट ऑफ सोसाइटी : ए स्टडी ऑफ सोशल आर्डर,* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

डयूकच, एम., 1985, डिस्ट्रिब्यूट्स जस्टिस, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हेवन।

के. टी. चैन्डी, 1992, "सोशल जस्टिस एंड रिक्वायरमेंट्स फॉर डेवलपमेंट", *लीगल न्यूज एण्ड व्यूज,* संख्या 6123।

पी ब्रीकमैन एवं अन्य, 1981, "माइक्रो जस्टिस एंड मैक्रो जस्टिस" एम. एवं एस. लर्नर, (संपा.), *दी जस्टिस मोटिव इन सोशल बिहेवियर,* न्यू यार्क : प्लेनम प्रैस।

ई. केसेर एवं एच. लैम, 1981, "कैजुअल एक्सप्लेनेशन ऑफ परफार्मेस डिफरेंसेज, एंड ऐलोकेशन अमन्ग फ्रैंडस", *जर्नल ऑफ सोशल साइकोलॉजी,* 115।

ए. स्विफ्ट, जी. मार्शल एवं सी. बर्गोयने, 1992, "विच रोड ऑफ सोशल जस्टिस?" *सोशलोलॉजी रिव्यू,* 2।

एस. स्वालफोर्स, 1993, "डायमेंशन्स ऑफ इनइक्वैलिटी : ए कम्पैरिज़न ऑफ एरिट्यूड्स इन स्वीड्न एण्ड ब्रिटेन," *यूरोपियन सोशलोलॉजी रिव्यू,* 9।

एन ज़फी, 1978, "एटीट्यूडस टूवर्डस पब्लिक वेलफेयर प्रोग्राम्स एंड रैसिपियन्ट्स इन द यूनाइटेड स्टेट्स", एपेन्डिक्स टू एल. एम. सालामेन, *वेलफेयर : दी इलुसिव कन्सेंस,* प्रेगेर।

जी. इलियट एवं बी. मीकर, 1986, "एचिविंग फेयरनेस इन दी फेस ऑफ कम्पीटिंग कंर्सन", *जर्नल ऑफ पर्सनेल्टी एंड सोशल साइकोलॉजी,* 50।

फ्रॉलिक, ऑपेनहेमर, एवं ऐवी, "चॉयस ऑफ प्रिंसिपल्स ऑफ डिस्ट्रीब्यूटिव जस्टिस इन एक्सपेरिमेंटल ग्रुप्स",

ए. स्विफ्ट, जी. मार्शल, सी. बॉरगोइन एवं डी रॉउथ, "डिस्ट्रीब्यूटिव जस्टिस : डज इट मैटर वाट द पीपल थिंक?" इन क्लूएजल एवं अन्य, *सोशल जस्टिस एंड पालिटिकल चेंज*।

जी. रायटिना, डब्ल्यू फॉर्म एवं जे. पीस, 1970, "इन्कम एंड स्ट्रैटिफिकेशन आयडियोलॉजीः बिलीफज़ एबाउट दी अमेरिकन अपर्चुनिटी स्ट्रक्चर", *अमेरिकन जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी,* 75।

अनलाकिंग ह्यूमन कैपिटल एनटाइटिलमैंट्स एण्ड गवर्नेस – ए केस स्टडी, 2006, द्वितीय रिपोर्ट, द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग, नई दिल्ली, जुलाई।

टूवर्ड्स फॉस्टर एंड मोर इन्क्लुसिव ग्रोथ, 2006, एन एप्रोच टू दी ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (प्रारूप), योजना आयोग, भारत सरकार, जून।

मैकक्लॉसकी एच एंड जे. ज़ेलर, 1984, *दी अमेरिकन इथोसः पब्लिक एटीट्यूड्स टूवडर्स कैपिटलिज्म एंड डेमोक्रेसी,* हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

क्लूएजल, जे. एवं ई. स्मिथ, 1986, बिलीफ्स अबाउट इनइक्वलिटी: अमेरिकन्स व्यूज ऑफ व्हाइट इज एण्ड व्हाइट ओट टू बी, एलडिन डी ग्रयूटियर, न्यू यार्क।

टेलर एवं गूबी, 1985, *पब्लिक ओपियन, आइडोलॉजी एंड स्टेट वेलफेयर,* राउटलॉज एंड कीगन पॉल, लंदन।

7.11 अभ्यास

1) विकास के लाभों के समान वितरण के बारे में आप क्या समझते हैं? विस्तार से जाँच कीजिए।

2) विकास के लाभों के वितरण के लिए मूलभूत सिद्धान्तों एवं अपनाई जाने वाली कसौटियों का वर्णन कीजिए।